

एम.ए.राजनीति शास्त्र—प्रथम सेमेस्टर

पेपर III, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

Paper Code – 20POL21C3



दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक—124001

Printed at: MDU Press

Copyright © 2020, Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Syllabus First Semester
Paper-III International Politics-I (20POL21C3)

Unit-I

International Politics, Meaning, Nature and Scope, Stage of Growth, International Politics as an autonomous discipline and subject matter of international politics.

Theory and Approaches to study of International relations : Idealist, Realist, System, Decision making, Game and Communication.

Unit-II

National Power : Meaning, Importance and its elements, Limitations of State action : Balance of Power, Collective Security, International Law, International Morality and World Public Opinion.

Unit-III

National Interests and ideology in International Relations. Foreign Policy and its elements; diplomacy, Features, Objectives, Functions, types of Diplomacy, Decline and Future of Diplomacy.

Unit-IV

Cold War, End of Cold War and Post Cold War, Non-alignment: Meaning, Features, Bases, Movement, History and Relevance in 21 st Century.

विषय-सूची

इकाई-I

- | | |
|--|-------|
| 1 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, स्वरूप, विषय, क्षेत्र, विकास के चरण एवं स्वायत्तता | 1-13 |
| 2 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त: विभिन्न दृष्टिकोण/उपागम | 14-29 |

इकाई-II

- | | |
|--|-------|
| 3 राष्ट्रीय शक्ति-अर्थ, महत्त्व, तत्त्व एवं सीमाएँ | 30-51 |
|--|-------|

इकाई-III

- | | |
|---|-------|
| 4 राष्ट्रीय हित, विचारधारा, विदेश नीति एवं राजनय | 52-61 |
| 5 राजनय : स्वरूप एवं विकास | 62-81 |
| 6 राजनय के प्रकार : पुराना व नवीन राजनय, गुप्त तथा खुला राजनय | 82-94 |

इकाई-IV

- | | |
|---------------------|---------|
| 7 शीत-युद्ध | 95-109 |
| 8 शीत युद्ध का अन्त | 110-115 |
| 9 गुटनिरपेक्षता | 116-132 |

अध्याय—1

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : परिभाषा, स्वरूप, विषय क्षेत्र, विकास के सोपान एवं स्वायत्तता

अध्याय का ढांचा

- 1.1 प्रस्तावना
 - 1.1.1. अध्याय के उद्देश्य
- 1.2 परिभाषाएँ
 - 1.2.1 परम्परागत परिभाषा
 - 1.2.2 समसामयिक परिभाषा
- 1.3 स्वरूप
- 1.4 विषय क्षेत्र
- 1.5 विकास के चरण
 - 1.5.1 कूटनीतिक इतिहास का प्रभुत्व (प्रारम्भ से 1919 तक)
 - 1.5.2 समस्याओं का अध्ययन (1919—1939)
 - 1.5.3 राजनैतिक सुधारवाद का युग (1919—1945)
 - 1.5.4 सैद्धान्तिकरण के प्रति आग्रह (1945—1991)
 - 1.5.5 वैश्वीकरण व गैर-सैद्धान्तिकरण का युग (1991—2020)
- 1.6 एक स्वायत्त विषय के रूप में
 - 1.6.1 स्वायत्त विषय है
 - 1.6.2 स्वायत्त विषय नहीं हैं
 - 1.6.3 स्वायत्तता की ओर अग्रसर
- 1.7 सारांश
- 1.8 प्रश्नावली
- 1.9 पाठन सामग्री

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन राज्यों की उत्पत्ति के साथ माना जा सकता है, परन्तु एक विषय के रूप में इसका अध्ययन 20वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। मूलतः मानवीय समाज की उत्पत्ति से मानवीय समूहों का जन्म हुआ। इन समूहों में आपसी मतभेद व सहयोग प्रकट हुए। इसके साथ-साथ इन समूहों के अपनी मांगों एवं हितों की पूर्ति की स्थिति भी पैदा हुई। इन्हीं हितों व मांगों की पूर्ति हेतु शक्ति की अवधारणा का जन्म हुआ। इसके परिणाम स्वरूप शक्ति हेतु संघर्ष भी होने लगे। लेकिन संघर्षों के साथ-साथ सहयोग एवं शान्ति व्यवस्था बनाने पर भी विचार होने लगा। यह प्रक्रिया प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अत्यन्त प्रभावकारी ढंग से सामने आई। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का जन्म भी हुआ। परन्तु तकनीकी विकास एवं राज्यों की महत्त्वकाशाओं ने शक्ति की अवधारणा तथा इससे उत्पन्न एकाधिकारवाद, वर्चस्व, एवं आधिपत्य को बढ़ावा दिया। इससे आपसी संघर्ष एवं शस्त्रों की होड़ बढ़ने लगी। इसीलिए शान्ति स्थापना एवं निःशस्त्रीकरण जैसे मुद्दे भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का हिस्सा बन गए। इसके साथ-साथ राज्यों की बदलती राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण समसामयिक समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय क्षेत्र अत्याधिक वृहत्त हो गया है।

1.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परम्परागत से वर्तमान में आये बदलावों से अवगत कराना है। इसके साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप एवं विषय क्षेत्र की विस्तृत जानकारी प्रदान करना है। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को राजनयिक इतिहास के रूप में अध्ययन से लेकर वर्तमान में वैश्वीकरण तक की यात्रा का अति विस्तृत वर्णन द्वारा इसके विकास के चरणों की जानकारी प्रदान करना है। क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वायत्त विषय है या नहीं इस हेतु भी इसके पक्ष व विपक्ष में दिए गए तर्कों के आधार पर मूल्यांकन करना है। अतः इस अध्याय में पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न बिन्दुओं की जानकारी प्रदान कर विषय से परिचय कराना है।

1.2 परिभाषा

साधारण शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ है राज्यों के मध्य राजनीति करना। यदि राजनीति के अर्थ का अध्ययन करें तो तीन प्रमुख तत्व सामने आते हैं— (i) समूहों का अस्तित्व; (ii) समूहों के बीच असहमति; तथा (iii) समूहों द्वारा अपने हितों की पूर्ति। इस आशय को यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आंकलन करें तो ये तीन तत्व मुख्य रूप से— (i) राज्यों का अस्तित्व; (ii) राज्यों के बीच संघर्ष; तथा (iii) अपने राष्ट्रहितों की पूर्ति हेतु शक्ति का प्रयोग। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उन क्रियाओं का अध्ययन करना है जिसके अंतर्गत राज्य अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु शक्ति के आधार पर संघर्षरत रहते हैं। इस संदर्भ में राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख लक्ष्य होते हैं; संघर्ष इसका दिशा निर्देश तय करती है तथा शक्ति इस उद्देश्य प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता है।

परन्तु उपरोक्त परिभाषा को हम परम्परागत मान सकते हैं, क्योंकि आज 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' का स्थान इससे व्यापक अवधारणा 'अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों' ने ले लिया है। इसके अंतर्गत राज्यों के परस्पर संघर्ष के साथ-साथ सहयोगात्मक पहलुओं को भी अब अन्तर्राष्ट्रीय के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज 'राज्यों' के अलावा अन्य कई कारक भी अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र बन गए हैं। अतः इसके अंतर्गत आज व्यक्ति, संस्था, संगठन व कई अन्य गैर-राज्य ईकाईयाँ भी सम्मिलित हो गई हैं। इसका वर्तमान आधार व विषय क्षेत्र आज काफी व्यापक स्वरूप ले चुका है। इन सभी विषयों पर चर्चा से पहले अलग-अलग विद्वानों द्वारा दी गई निम्न परिभाषाओं की समीक्षा करना अति अनिवार्य हो जाता है—

1.2.1 परम्परागत परिभाषाएँ:— इन परिभाषाओं का दायरा अति सीमित है, क्योंकि इसके अंतर्गत मूलतः 'राज्यों' को

ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारक के रूप में माना गया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप तक ही सीमित हैं। मुख्य रूप से हेंस जे. मारगेन्थाऊ, हेराल्ड स्प्राऊट, वोन डॉयक, थाम्पसन आदि इसके मुख्य समर्थक हैं जो इनकी निम्न परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है—

- (i) हेंस जे. मारगेन्थाऊ— “अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है।”
- (ii) हेराल्ड स्प्राऊट— “स्वतन्त्र राज्यों के अपने-अपने उद्देश्यों एवं हितों के आपसी विरोध— प्रतिरोध या संघर्ष के उत्पन्न उनकी प्रतिक्रिया एवं संबंधों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।”
- (iii) वोन डॉयक— “अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की सरकारों के मध्य शक्ति संघर्ष है।”
- (iv) थाम्पसन— “राष्ट्रों के मध्य प्रारम्भ प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ उनके आपसी संबंधों को सुधारने या खराब करने वाली परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।”

1.2.2 समसामयिक परिभाषाएँ— नवीन परिभाषाओं में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यापक स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की चर्चा की गई है। इसमें राज्य के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नवीन कारकों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, देशांतर समूह, गैर सरकारी संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, कुछ व्यक्तियों आदि को भी सम्मिलित किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें संघर्ष के साथ-साथ सहयोग तथा राजनीति के साथ-साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इसे प्रभावित करने वाले अर्थात्, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, विज्ञान एवं तकनीकी आदि पहलुओं का भी उल्लेख किया गया है। विभिन्न लेखकों की निम्नलिखित परिभाषाओं से यह आशय अति स्पष्ट रूप से उजागर हो जाता है—

- (i) नार्मन डी. पामर व होवार्ड सी परकिंस— “अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में राष्ट्र राज्यों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा समूहों के परस्पर संबंधों के अतिरिक्त और बहुत कुछ सम्मिलित है। यह विभिन्न स्तर पर पाये जाने वाले अन्य संबंधों का भी समावेश करता है जो राष्ट्र राज्य के ऊपरी व निचले स्तर पर मिलते हैं। परन्तु यह राष्ट्र राज्य को ही अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का केन्द्र मानता है।”
- (ii) स्टेनले होफमैन—“अन्तर्राष्ट्रीय संबंध उन तत्वों एवं गतिविधियों से सम्बन्धित है, जो उन मौलिक ईकाईयों, जिनमें विश्व बंटा हुआ है, की बाह्य नीतियों एवं शक्ति को प्रभावित करता है।”
- (iii) क्विंसी राइट—“अन्तर्राष्ट्रीय संबंध केवल राज्यों के संबंधों को ही नियमित नहीं करता अपितु इसमें विभिन्न प्रकार के समूहों जैसे राष्ट्र, राज्य, लोग, गठबंधन, क्षेत्र, परिसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, औद्योगिक संगठन, धार्मिक संगठन आदि के अध्ययनों को भी शामिल करना होगा।”

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप प्रारंभ से वर्तमान तक बहुत व्यापक हो जाता है। इसमें आज राष्ट्र राज्यों के साथ विभिन्न विश्व इकाइयों एवं संगठनों के अध्ययन का समावेश हो चुका है। परन्तु इन सभी परिवर्तनों के बाद भी इन अध्ययनों का केन्द्र बिन्दु आज भी राष्ट्र राज्य ही है।

1.3 स्वरूप

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप के बारे में निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं।

- (i) इन परिभाषाओं से एक बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अभी भी बदलाव के दौर से गुजर रही है। इसके बदलाव की प्रक्रिया अभी स्थाई रूप से स्थापित नहीं हुई है। अपितु यह अपने विषय क्षेत्र के बारे में आज भी नवीन प्रयोगों एवं विषयों के समावेश से जुड़ी हुई है।
- (ii) एक अन्य बात यह उभर कर आ रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत जटिल है। इसके अध्ययन हेतु बहुआयामी प्रयासों की आवश्यकता होती है।

- (iii) यह निश्चित है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु राज्य ही है, परन्तु यह भी काफी हद तक सही है कि इसके अंतर्गत राज्यों के अतिरिक्त विभिन्न संगठनों, समुदायों, संस्थाओं आदि का अध्ययन करना अति अनिवार्य हो गया है।
- (iv) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु विभिन्न स्तरों एवं आयामों का अध्ययन आवश्यक है। अतः इस विषय का अध्ययन अन्ततः अनुशासकीय पर अधिक कुशलतापूर्वक हो सकता है।
- (v) इसके अध्ययन हेतु नवीन दृष्टिकोणों की उत्पत्ति हो रही है। जैसे-जैसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बदलाव आता है उसके अध्ययन एवं सामन्यीकरण हेतु नये उपागमों की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जहां यथार्थवाद, व्यवस्थावादी, क्रीड़ा, सौदेबाजी तथा निर्णयपरक उपागमों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार अब उत्तर शीतयुद्ध युग में उत्तर आधुनिकरण, विश्व व्यवस्था, क्रिटिकल सिद्धान्त आदि की उत्पत्ति हुई। भावी विश्व में भी वैश्वीकरण व इससे जुड़े मुद्दों पर नये उपागमों के कार्यरत होने की व्यापक सम्भावनाएँ हैं।

अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप परिवर्तनशील है। जब-जब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवेश, कारकों व घटनाक्रम में परिवर्तन आयेगा, इसके अध्ययन करने के तरीकों व दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, यह परिवर्तन स्थाई न होकर निरंतर है। इसके साथ-साथ कारकों, स्तरों, आयामों आदि के कारण यह बहुत जटिल है अतः इसके सुचारु अध्ययन हेतु बहुत स्पष्ट, तर्कसंगत, व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।

1.4 विषय क्षेत्र

जैसा उपरोक्त परिभाषाओं एवं स्वरूप से ज्ञात है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। आज इसका विषय क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है जिसके अंतर्गत निम्नलिखित बातों का अध्ययन किया जाता है-

- (i) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय में विभिन्न बदलाव के बाद भी आज भी इसका मुख्य केन्द्र बिन्दु राज्य ही है। मूलतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों के मध्य अन्तः क्रियाओं पर ही आधारित होती है। प्रत्येक राज्यों को अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सीमाओं में रह कर ही कार्य करने पड़ते हैं। परन्तु इन कार्यों के करने हेतु विभिन्न राज्यों में संघर्षात्मक व सहयोगात्मक दोनों ही प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इन्हीं प्रतिक्रियाओं, इनसे जुड़े अन्य पहलुओं का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की प्रमुख सामग्री होती है।
- (ii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का दूसरा महत्वपूर्ण कारक शक्ति का अध्ययन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत कई दशकों तक विशेषकर शीतयुद्ध काल में, यह माना गया कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख उद्देश्य शक्ति संघर्षों का अध्ययन करना मात्र ही है। यथार्थवादी लेखक, विशेषकर मारगेन्थाऊ, तो इस निष्कर्ष को अति महत्वपूर्ण मानते हैं कि "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति केवल राज्यों के बीच शक्ति हेतु संघर्ष" है। वे 'शक्ति' को ही एक मात्र कारण मानते हैं जिस पर सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा परस्पर राज्यों के संबंधों की नींव टिकी है। परन्तु पूर्ण रूप से यह सत्य नहीं है। शायद इसलिए हम देखते हैं कि शीतयुद्धोत्तर युग में शक्ति संघर्ष के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि संबंध भी उतने ही महत्वपूर्ण बन गये हैं। हां इस तथ्य को भी पूर्ण रूप से नहीं नकार सकते कि शक्ति आज भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण कारक है।
- (iii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अन्य कारक अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन भी है। आधुनिक युग राज्यों के बीच बहुपक्षीय संबंधों का युग है। राज्यों के इन बहुपक्षीय संबंधों के संचालन में अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। ये अंतर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, सैन्य,

सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग के मार्ग प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र के अतिरिक्त विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठन जैसे विश्व बैंक, मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, नाटों, यूरोपीय संघ, दक्षेस, आशियान, रेड क्रॉस, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को आदि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का प्रमुख हिस्सा बन गए हैं।

- (iv) युद्ध व शक्ति की गतिविधियों का अध्ययन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अभिन्न अंग बन गया है। यह सत्य है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति न तो पूर्ण रूप से सहयोग तथा न ही पूर्ण रूप से संघर्षों पर आधारित है। अतः मतभेद व सहमति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सहचर हैं। इन दोनों की उपस्थिति का अर्थ है यहां युद्ध व शान्ति दोनों की प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। विभिन्न मुद्दों पर आज भी राष्ट्रों के मध्य युद्ध के विकल्प को नहीं त्यागा है। शीतयुद्ध के साथ-साथ राज्यों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध आज भी हो रहे हैं। बल्कि वर्तमान विज्ञान के विकास व हथियारों के अति आधुनिकतम रूप के कारण आज युद्ध और भी भयानक हो गए हैं। युद्ध आज प्रारम्भ होने पर दो राष्ट्रों के लिए भी घातक नहीं, अपितु, सम्पूर्ण मानवता का विनाश भी कर सकते हैं। इसलिए युद्धों को रोकने हेतु शान्ति प्रयासों पर भी अत्यधिक बल दिया जाता है। इसलिए इन युद्ध व शान्ति के पहलुओं का अध्ययन करना ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख भाग बन गया है।
- (v) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का संवर्धन एवं अभिव्यक्ति करते हैं। यह प्रक्रिया केवल एक समय की न होकर निरन्तर चलती रहती है। इस प्रक्रिया का प्रकटीकरण राज्यों की विदेश नीतियों के माध्यम से होता है। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विदेशी नीतियों का आकलन एक अभिन्न अंग बन गया है। इसके अतिरिक्त, राज्यों की इन विदेश नीतियों के स्वरूप से ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में भी बदलाव आता है। इन्हीं के कारण विश्व में शांति व सहयोग अथवा युद्ध की परिस्थितियों को जन्म मिलता है। न केवल वर्तमान बल्कि भावी अंतर्राष्ट्रीय का स्वरूप भी इन्हीं राज्यों के आपसी संबंधों को प्रगाढ़ता एवं तनाव पर निर्भर करता है। अतः विभिन्न विदेश नीतियों का अध्ययन व आकलन भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण विषय क्षेत्र है।
- (vi) राष्ट्रों के मध्य सुचारु, सुसंगठित एवं सुस्पष्ट संबंधों के विकास हेतु कुछ नियमावली का होना अति आवश्यक होता है। अतः राज्यों के परस्पर व्यवहार को नियमित करने हेतु अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सुचारु स्वरूप एवं भविष्य के दिशा निर्देश हेतु भी इनकी आवश्यकता होती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर युद्धों को रोकने, शान्ति स्थापित करने, हथियारों की होड़ रोकने, संसाधनों का अत्याधिक दोहन न करने, भूमि, समुद्र व अन्तरिक्ष को सुव्यवस्थित रखने आदि विभिन्न विषयों पर राज्यों की गतिविधियों को सुचारु करने हेतु भी अंतर्राष्ट्रीय विधि का होना आवश्यक है। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का समावेश भी आवश्यक हो गया है।
- (vii) राज्यों की गतिविधियों के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक मुद्दों का अध्ययन भी काफी महत्वपूर्ण रहा है। परन्तु शीतयुद्ध के संघर्षों के कारण 1945-91 तक राजनैतिक मुद्दे ज्यादा अग्रणीय रहे तथा आर्थिक मुद्दे गौण हो रहे हैं। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में ज्यादातर राज्य आर्थिक सुधारों, उदारवाद, मुक्त व्यापार आदि के दौर से गुजर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन अति महत्वपूर्ण हो गया है। आज संयुक्त राष्ट्र के राजनैतिक ईकाइयों की बजाय विश्व व्यापार संगठन, अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, उत्तर दक्षिण संवाद, विकासशील देशों के कर्ज की समस्या, व्यापार में भुगतान संतुलन, बाह्य पूंजीनिवेश, संयुक्त उद्यम, आर्थिक सहायता आदि विषय अत्याधिक महत्व के हो गए हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इन आर्थिक संस्थाओं, संगठनों व कारकों का अध्ययन करना अनिवार्य हो गया है।
- (viii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान स्वरूप से यह स्पष्ट है कि अब इस विषय के अंतर्गत राज्यों के अतिरिक्त

गैर सरकारी संगठनों की भूमिकाएं भी महत्वपूर्ण होती जा रही हैं। दूसरी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बढ़ते विषय के क्षेत्र के साथ-साथ इसमें कार्यरत संस्थाओं एवं संगठनों का विकास भी हो रहा है। तीसरे, अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण मुद्दे भी आ रहे हैं, जो मानवता हेतु ध्यानाकर्षण योग्य बन गए हैं। इन सभी कारणों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का दायरा भी विकसित होता जा रहा है। आज इसमें राजनैतिक ही नहीं बल्कि गैर-राजनैतिक विषय जैसे पर्यावरण, नारीवाद, मानवाधिकार, ओजोन परत क्षीण होना, मादक, द्रवों की तस्करी, गैर कानूनी व्यापार, शरणार्थियों व विस्थापितों की समस्याएँ आदि भी महत्वपूर्ण होती जा रही हैं। विभिन्न स्तरों पर राज्यों के विभिन्न मुद्दों से जुड़े कई स्थानीय या क्षेत्रीय संगठन परंपरागत विषय क्षेत्र तक सीमित न रहकर समसामयिक विषयों को भी सम्मिलित कर लिया है। इसलिए इन सभी समस्याओं, संगठनों, पहलुओं आदि का अध्ययन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण हो गया है।

अतः अंतर्गत विभिन्न परम्परागत कारकों के साथ-साथ गैर- परम्परागत कारकों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

1.5 विकास के चरण

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का इतिहास ज्यादा प्राचीन नहीं है, बल्कि यह विषय बीसवीं शताब्दी की उपज है। स्पष्ट रूप से देखा जाए तो वेल्स विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय वुडरॉस विल्सन पीठ की 1919 की स्थापना से ही इसका इतिहास प्रारम्भ होता है। इस पीठ पर प्रथम आसीन होने वाले प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर ऐल्फर्ड जिमर्न थे तथा बाद अन्य प्रमुख विद्वाना जिन्होंने इस पीठ को सुशोभित किया उनमें से प्रमुख थे— सी.के. वेबस्टर, ई.एच.कार., पी.ए.रेनाल्ड, लारेंस डब्लू. माटिन.टी. ई. ईवानज आदि। इसी समय अन्य विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थाएं देखने को मिली। अतः पिछली एक शताब्दी के इस विषय के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो इस विषय में आये उतार-चढ़ाव के साथ-साथ इसके एक स्वायत्त विषय में स्थापित होने के बारे में जानकारी मिलती है। इस विषय में आये बहुआयामी परिवर्तनों ने जहां एक ओर विषयवस्तु का संवर्धन, समन्वय तथा विकास किया है, वहीं दूसरी ओर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके बहुत सी जटिल समस्याओं एवं पहलुओं को समझने में सहायता प्रदान की है।

केनेथ थाम्पसन ने सन् 1962 के रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स में प्रकाशित अपने लेख में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास को चार भागों में बांटा है, जिसके आधार पर इस विषय का सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित अध्ययन सम्भव हो सकता है। विकास के इन पाँच चरणों में शीतयुद्धोत्तर युग के पांचवे चरण को भी सम्मिलित किया जा सकता है। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार से है—

1.5.1 कूटनीतिक इतिहास का प्रभुत्व, प्रारम्भ से 1919 तक

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व इतिहास, कानून, राजनीति शास्त्र, दर्शन आदि के विद्वान ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अलग-अलग पहलुओं पर विचार करते थे। मुख्य रूप से इतिहासकार ही इसका अध्ययन राजनयिक इतिहास तथा अन्य देशों के साथ संबंधों के इतिहास के रूप में करते थे। इसके अंतर्गत कूटनीतिज्ञों व विदेश मंत्रियों द्वारा किए गए कार्यों का लेखा जोखा होता था। अतः इसे कूटनीतिक इतिहास की संज्ञा भी दी जाती है। ई.एच.कार के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध का संबंध केवल सैनिकों तक समझा जाता था इसके समक्ष अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का संबंध राजनयिकों तक। इसके अतिरिक्त, प्रजातांत्रिक देशों में भी परम्परागत रूप से विदेश नीति को दलगत राजनीति से अलग रखा जाता था तथा चुने हुए अंग भी अपने आपको विदेशी मंत्रालय पर अंकुश रखने में असमर्थ महसूस करते थे।

1919 से पूर्व इस विषय के प्रति उदासीनता के कई प्रमुख कारण थे— प्रथम, इस समय तक यही समझा

जाता था युद्ध व राज्यों में गठबंधन उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे गरीबी व बेरोजगारी। अतः युद्ध, विदेश नीति एवं राज्यों के मध्य परस्पर संबंधों को रोक पाना मानवीय समर्थ्य के वश से बाहर माना जाता था। द्वितीय, प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व युद्ध इतने भयंकर नहीं होते थे। तृतीय, संचार साधनों के अभाव में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कुछ गिने चुने राज्यों तक ही सीमित थी।

इस प्रकार इस युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की सबसे बड़ी कमी सामान्य हितों का विकास रहा। इस काल में केवल राजनयिक इतिहास का वर्णनात्मक अध्ययन मात्र ही हुआ। परिणामस्वरूप इससे न तो वर्तमान तथा नही भावी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में कोई मदद मिली। इस युग की मात्र उपलब्धि 1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की पीठ की स्थापना रही।

1.5.2 सामयिक घटनाओं/समस्याओं का अध्ययन, 1919–1939

दो विश्व युद्धों के बीच के काल में दो समानान्तर धाराओं का विकास हुआ। जिनमें से प्रथम के अंतर्गत पूर्व ऐतिहासिकता के प्रति प्रभुत्व को छोड़कर सामयिक घटनाओं/समस्याओं के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाने लगा। इसके साथ साथ अब ऐतिहासिक राजनीतिक अध्ययन को वर्तमान राजनैतिक संदर्भों के साथ जोड़ कर देखने का प्रयास भी किया गया। ऐतिहासिक प्रभाव के कम होने के बाद भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु एक समग्र दृष्टिकोण का अभाव अभी भी बना रहा। इस काल में वर्तमान के अध्ययन पर तो बहुत बल दिया गया, लेकिन वर्तमान एवं अतीत के पारस्परिक संबंध के महत्व को अभी पहचाना नहीं गया। इसके अतिरिक्त, न ही युद्धोत्तर राजनैतिक समस्याओं को अतीत की तुलनीय समस्याओं के साथ रखकर देखने का प्रयास ही किया गया।

शायद इसीलिए इस युग में भी दो मूलभूत कमियाँ स्पष्ट रूप से उजागर रहीं। प्रथम, पहले चरण की ही भांति इस काल में भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सार्वभौमिक सिद्धान्त का विकास नहीं हो सका। द्वितीय, आज भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन अधिक सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत नहीं बन पाया। इस प्रकार इस चरण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में बल देने की स्थिति में बदलाव के अतिरिक्त बहुत ज्यादा परिवर्तन देखने को नहीं मिला तथा न ही इस विषय के स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र अनुशासन बनने की पुष्टि हुई।

1.5.3 राजनैतिक सुधारवाद का युग, 1939–1945

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का तृतीय चरण भी द्वितीय चरण के समानान्तर दो विश्व युद्धों के बीच का काल रहा। इसे सुधारवाद का युग इसलिए कहा जाता है कि इसमें राज्यों द्वारा राष्ट्र संघ की स्थापना के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सुधार की कल्पना की गई। इस युग में मुख्य रूप से संस्थागत विकास किया गया। इस काल के विद्वानों राजनयिकों, राजनेताओं व चिन्तकों का मानना था कि यदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का विकास हो जाता है तो विश्व समुदाय के सम्मुख उपस्थित युद्ध व शांति की समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकेगा। इस उद्देश्य हेतु कुछ कानूनी व नैतिक उपागमों की संरचनाएं की गईं जिनके निम्न मुख्य आधार थे।

- (क) शान्ति स्थापित करना सभी राष्ट्रों का सांझा हित है, अतः राज्यों को हथियारों का प्रयोग त्याग देना चाहिए।
- (ख) अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कानून व व्यवस्था के माध्यम से झगड़ों को निपटाया जा सकता है।
- (ग) राष्ट्र की तरह, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी, कानून के माध्यम से अनुचित शक्ति प्रयोग को प्रतिबंधित किया जा सकता है।
- (घ) राज्यों की सीमा परिवर्तन का कार्य भी कानून या बातचीत द्वारा हल किया जा सकता है।

इन्हीं आदर्शिक एवं नैतिक मूल्यों पर बल देते हुए अंतर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्र संघ) की परिकल्पना की गई। इसकी

स्थापना के उपरान्त यह माना गया कि अब अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राज्यों के मध्य शान्ति बनाने का संघर्ष समाप्त हो गया। नई व्यवस्था के अंतर्गत शक्ति संतुलन का कोई स्थान नहीं होगा। अब राज्य अपने विवादों का निपटारा संघ के माध्यम से करेंगे। अतः इस युग में न केवल युद्ध व शान्ति की समस्याओं का विवेचन किया, अपितु इसके दूरगामी सुधारों के बारे में भी सोचा गया। अतः अध्ययनकर्ताओं के मुख्य बिन्दु भी कानूनी समस्याओं व संगठनों के विकास के साथ-साथ इनके सुधारवाद पर अधिक बल दिया गया है।

परन्तु विश्वयुद्धों के बीच इन उपागमों की सार्थकता पर हमेशा प्रश्न चिन्ह लगा रहा। राष्ट्र संघ की प्रथम एक दशक (1919-1929) की गतिविधियों से जहां आशा की किरण दिखाई दी, वहीं दूसरे दशक (1929-1939) की यथार्थवादी स्थिति ने इस धारणा को बिल्कुल समाप्त कर दिया। बड़ी शक्तियों के मध्य असहयोग व गुटबन्दियों ने शान्ति की स्थापना की बजाय शक्ति संघर्ष व्यवस्था को जन्म दिया। जापान ने मंचूरिया पर हमले करके जहां शांति को भंग कर दिया वही इटली, जर्मनी व रूस ने भी विवादस्पद स्थितियों में न केवल राष्ट्र संघ की सदस्यता ही छोड़ी, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने की प्रक्रिया को और तीव्र बना दिया। इस प्रकार शान्ति, नैतिकता व कानून से विश्व व्यवस्था नहीं चल सकी, तो ई.एच.कार. शुभा, किंसी राईट आदि लेखकों के कारण यथार्थवादी दृष्टिकोण को वैकल्पिक उपागम के रूप में बल मिला।

1.5.4 सैद्धान्तिकरण के प्रति आग्रह, 1945-1991

इस चरण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मूलभूत परिवर्तनों से न केवल इसकी विषयवस्तु व्यापक हुई बल्कि इसमें बहुत जटिलताएँ भी पैदा हो गईं। शीतयुगीन काल में राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन तथा नये राज्यों के उदय ने सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को ही बदल दिया। परिणामस्वरूप नये उपागमों, आयामों, संस्थाओं व प्रवृत्तियों का सृजन हुआ जिनके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय का अध्ययन सुनिश्चित हो गया।

पूर्व चरणों की आदर्शिक, संस्थागत, नैतिक, कानूनी एवं सुधारवादी धाराओं की असफलताओं ने नये उपागमों के विकास की ओर अग्रसर किया। यह नया उपागम था— यथार्थवाद। वैसे तो ई.एच.कार, श्वार्जनबर्जर, किंसी राईट, शुभा आदि लेखकों ने इस दृष्टिकोण को विकसित किया, परन्तु हेंस जे.मारगेन्थाऊ ने इसे एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य हमेशा अपने हितों की पूर्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने हेतु इस शक्ति संघर्ष के विभिन्न आयामों को समझना अति आवश्यक है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सुनिश्चित व सुस्पष्ट विकास के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) की भी उत्पत्ति हुई। अब इस संगठन का स्वरूप मात्र आदर्शवादी व सुधारवादी न होकर, महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठन के रूप में उभर कर आया। इसके अंतर्गत मानवजाति को युद्ध की विभीषिका से बचाने के साथ-साथ राज्यों के मध्य संघर्ष के कौन-कौन से कारण हैं? विश्वशांति हेतु खतरे के कौन-कौन से कारक हैं? शांति की स्थापना कैसे हो सकती है? शस्त्रों की होड़ को कैसे रोका जा सकता है? आदि कई प्रकार के प्रश्नों का समाधान ढूँढने के प्रयास भी किए गए। उपरोक्त दो प्रवृत्तियों के साथ-साथ व्यवहारवाद की उत्पत्ति भी इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के माध्यम से "व्यवस्था सिद्धान्त" की उत्पत्ति कर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का प्रयास किया गया। इस उपागम के अंतर्गत राज्यों के अध्ययन हेतु तीन प्रमुख कारकों का अध्ययन किया जाना जरूरी माना गया। ये कारक थे—

- (क) विभिन्न देशों के विदेश नीतियों को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन
- (ख) विदेश नीति संचालन की पद्धतियों का अध्ययन
- (ग) अंतर्राष्ट्रीय विवादों और समस्याओं के समाधान के उपायों का अध्ययन।

उपरोक्त प्रवृत्तियों का मुख्य बल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सैद्धान्तिकरण को बढ़ावा देना रहा है। अतः इस युग में

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना आति महत्वपूर्ण कार्य रहा है। सिद्धान्त निर्माण की इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप अनेक आंशिक सिद्धान्तों जैसे— यथार्थवाद, संतुलन का सिद्धान्त, संचार सिद्धान्त, क्रीड़ा सिद्धान्त सौदेबाजी का सिद्धान्त, शान्ति अनुसंधान दृष्टिकोण, व्यवस्था सिद्धान्त, विश्व व्यवस्था प्रतिमान आदि का निर्माण हुआ।

इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के बावजूद इस युग में किसी एक सार्वभौमिक व सामान्य सिद्धान्त का अभाव अभी भी बना रहा। 1990 के दशक में जयन्त बंधोपाध्याय ने अपनी – **जनरल थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंस (1993)**— में मार्टिन कापलान के व्यवस्थापरक सिद्धान्त की कमियों को दूर कर एक सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना की कोशिश की है, परन्तु वह अभी वाद-प्रतिवाद के दौर में ही हैं। अतः सैद्धान्तिकरण के मुख्य दौर के बावजूद शीतयुद्ध कालीन युग अपनी वैचारिक संकीर्णता के अलगाव के कारण किसी एक सामान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन से वंचित रहा।

1.5.5 वैश्वीकरण व गैर सैद्धान्तिकरण का युग, 1991–2020.

शीतयुद्धोत्तर युग में सभी राष्ट्रों द्वारा एक आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत जुड़ना प्रारम्भ कर दिया। इसीलिए अब वैश्वीकरण, उदारीकरण, मुक्त बाजार व्यवस्था आदि को दौर प्रारम्भ हो गया। इस संदर्भ में न केवल आर्थिक मुद्दों का ही महत्व बढ़ा, अपितु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्व और भी बढ़ गया। आज राष्ट्रीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता का विभेद समाप्त हो गया इसके अतिरिक्त, अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय सूची में काफी नवीन विषयों का समावेश हो गया जो राष्ट्रीय न रहकर अब मानवजाति की समस्याओं के रूप में उभर कर आये। वर्तमान विश्व की प्रमुख समस्याओं में आंतकवाद, पर्यावरण, ओजोन परत क्षीण होना, नशीले पदार्थों एवं मादक द्रव्यों की तस्करी, मानवाधिकारों का हनन आदि प्रमुख मुद्दे उभर कर सामने आए। जिनका राष्ट्रीय स्तर की बजाय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हल निकालना अनिवार्य बन गया है।

सैद्धान्तिक स्तर पर भी 1945 से 1991 तक के सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना के प्रयास को धक्का लगा। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की इस संदर्भ में अब प्राथमिकताएं बदल गईं। उत्तर-आधुनिकतावाद में (पोस्ट मोडर्निज्म) अब सार्वभौमिक सिद्धान्तों की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लग रहे हैं। ऐतिहासिक सन्दर्भ एवं प्राचीन परिवेश के प्रभाव को भी नकारा जा रहा है। अब स्वतन्त्र मुद्दे अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। वृहत् सिद्धान्त गौण हो गए हैं। नए सन्दर्भ में आंशिक शोध अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। उदाहरणस्वरूप नारीवाद, मानवाधिकार, पर्यावरण आदि विषयों पर अधिक बल देने के साथ-साथ चिन्तन भी प्रारम्भ हो गया है। अतः शीतयुद्धोत्तर युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप, विषय सूची एवं विषय क्षेत्र पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गए हैं। अब सामान्य सैद्धान्तिक स्थापना पर भी अधिक बल नहीं दिया जा रहा है। इसीलिए इस बदले हुए परिवेश में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति महत्वपूर्ण ही नहीं, अपितु स्वायत्तता की ओर अग्रसर प्रतीत हो रही है और विषय की स्वायत्तता हेतु आशावादी संकेत दिखाई देते हैं।

1.6 अंतर्राष्ट्रीय संबंध: एक स्वायत्त विषय के रूप में

द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को मूलभूत रूप में प्रभावित किया अपितु कई महत्वपूर्ण मुद्दों की अभिव्यक्ति भी की। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारकों में परिवर्तन, कारकों को व्यापक स्वरूप प्रदान करना, नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि अनेक विषयों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का पूर्ण परिवेश ही बदल कर रख दिया है। जहां एक ओर सैद्धान्तिक स्तर पर यथार्थवाद व आदर्शवाद के वाद-विवाद तथा प्राचीन व वैज्ञानिकता पर वाद-विवाद हो रहा है, वहीं दूसरी ओर व्यवहारिक स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय संबंध विषय के प्रारूप के बारे में विवादास्पद प्रश्न उठन रहे थे कि –क्या अंतर्राष्ट्रीय संबंध एक स्वायत्त विषय है या नहीं? यद्यपि अधिकतर विश्वविद्यालयों में स्नातक व स्नातकोत्तर स्तरों पर तथा शोध हेतु यह एक स्वायत्त विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है, तथापि इसे सामाजिक विज्ञान के अन्य विषयों के समकक्ष मान्यता नहीं मिली है। इतना अवश्य हुआ है कि विकसित देशों में तो

कई विश्वविद्यालयों में इसे पूर्ण रूप से स्वायत्त विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है। भारत जैसे विकासशील देशों में भी सुधार हुआ है। यहां प्रारंभ में 'भारतीय अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्कूल, नई दिल्ली जो बाद में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय जैसे जादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता, गोवा विश्वविद्यालय आदि में भी अब इसे स्वायत्त विषय का दर्जा मिला है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को एक स्वायत्त विषय के रूप में अध्ययन करने से पूर्व एक बात स्पष्ट करनी आदि आवश्यक है कि जब हम इस विषय की स्वायत्तता के प्रश्न का अध्ययन करते हैं तो 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' व अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को अलग-अलग विषय नहीं मानते हैं। यह इसलिए किया गया है कि दोनों ही विषयों को अभी स्वायत्त अनुशासन न मानकर राजनीतिशास्त्र विषय के एक उप-अनुशासन के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। दूसरे इनका विभेद इतना सूक्ष्म है कि अनुशासन की स्वायत्तता की प्रामाणिकता के बाद इस विषय को सुलझाया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्त विषय मानने के संदर्भ में तीन पृथक-पृथक विचार दिए गए हैं जो निम्न प्रकार से हैं। (i) प्रथम समूह उन विद्वानों का है जो इस विषय को स्वायत्त मानते हैं; (ii) द्वितीय समूह के विद्वानों का मानना है कि इस विषय में कोई ऐसी विलक्षण बात नहीं है कि इसे स्वायत्त माना जाए; तथा (iii) तीसरे समूह के विशेषज्ञ इस बहस में नहीं पड़ना चाहते, परन्तु इस विषय के गहन अध्ययन हेतु आवश्यक प्रथम दो विचारों के तार्किक आधार पर विश्लेषण अनिवार्य मानते हैं क्योंकि विश्लेषण एवं तर्कों के आधार पर इस विषय की वास्तविक स्थिति का कोई प्रामाणिक निष्कर्ष सम्भव हो सकेगा।

1.6.1 स्वायत्त विषय है – जो विद्वान इस विषय को स्वायत्त मानते हैं उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय वस्तु व अनुशासन संबंधी सामग्री को देखते हुए इसे स्वायत्त विषय माना जाना चाहिए। इस तर्क के प्रमुख समर्थक हैं— सी.ए.डब्ल्यू. मैनींग, विंसी राईट, राबर्ट लोटिंग ऐलन, हेंस.जे. मारगेन्थाऊ, कार्ल एम. कॉपर, जानसन, हॉफमैन, ए. एल.बर्न आदि। इन विद्वानों ने निम्न आधारों पर इसे स्वायत्त विषय प्रमाणित किया है—

(क) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता जानने से पूर्व 'अनुशासन' को जानना आवश्यक है विभिन्न स्रोतों ने अनुशासन अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। वेबस्टर शब्दकोष के अनुसार अनुशासन वह है जो "शिष्यों को पढ़ाया जाता है।" इस संदर्भ में यह विषय वास्तव में एक अनुशासन है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार अनुशासन "शिक्षण देने की एक शाखा है।" इस बारे में भी इस विषय को अनुशासन मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तीसरी परिभाषा का होना जरूरी है। इन बातों के अभाव के कारण ही राबर्ट लोटिंग ऐलेन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक अनुशासन का दर्जा नहीं देते हैं। परन्तु इसके विपरीत अन्य विद्वानों का मत है कि यदि इस मापदण्ड को अन्य सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में भी देखें तो यह बात उतनी ही तरह से लागू नहीं होती जिस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू होती है। शायद इसीलिए विंसी राईट का मानना है कि चाहे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति संबंधी परिभाषा को अति निश्चित रूप से लागू नहीं किया जा सकता परन्तु फिर भी यह एक स्वायत्त अनुशासन है। यद्यपि इसके 'मूल अनुशासन; आठ विषयों— अंतर्राष्ट्रीय कानून, राजनयिक इतिहास, सैन्य विज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, औपनिवेशिक सरकारें तथा विदेशी संबंध— पर आधारित है, परन्तु इसका दृष्टिकोण भिन्न है अतः यह स्वतन्त्र अनुशासन है। हालांकि यह अवश्य सत्य है कि अन्य अनुशासनों की तुलना में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रारूप अभी नया है तथाविकास की ओर अग्रसर है।

(ख) 1954 में सी.ए.डब्ल्यू. मैनींग ने युनेस्को के तत्वाधान में एक पुस्तक— **द यूनिवर्सिटी टीचिंग ऑन सोशल साइंसिज**— संपादित की जिसमें उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को उच्च शिक्षा में पढ़ाये जाने संबंधी विषय पर विश्लेषण किया। इस पुस्तक में उन्होंने आठ देशों— मिश्र, फ्रांस, भारत, मैक्सिको, स्वीडन,

इंग्लैंड, अमेरिका तथा युगोस्लाविया— के उच्च शिक्षण संस्थाओं का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को एक अलग विषय का दर्जा दिया जाना चाहिए। इस संदर्भ में उसने निम्नलिखित तर्क दिए— प्रथम, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक जटिल सामाजिक परिवेश होता है जो निरंतर बढ़ता रहता है तथा परीक्षण हेतु उपलब्ध रहता है। इसी परिवेश में समसामयिक घटनाओं का जन्म होता है। अतः इस प्रकार के परिवेश का अलग व स्वायत्त अध्ययन अनिवार्य बन जाता है। द्वितीय जटिल अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के अध्ययन हेतु एक “सार्वभौमिक दृष्टिकोण” की आवश्यकता होती है तथा इस प्रकार के माध्यम से विभिन्न विचारधाराओं का जन्म सम्भव है। तृतीय, इसी सर्वभौमिक दृष्टिकोण के माध्यम से विभिन्न विचारधारों का जन्म सम्भव है, जिसके माध्यम से हम एक विश्व/आधुनिक विश्व की कुछ समस्याओं का समाधान करने में दक्षता प्राप्त कर सकते हैं।

अतः मैनींग अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक मिश्रित अनुशासन मानते हैं तथा जो ज्ञान के एक विस्तृत भाग का हिस्सा है जिसे “सामाजिक विश्वविद्या” (सोशल कास्मोलोजी) की संज्ञा दी है। इसी सामाजिक विश्वविद्या की विषय वस्तु से अंतर्राष्ट्रीय समाज की संरचना होती है।

- (ग) उपरोक्त दो प्रमुख आधारों के अतिरिक्त, कार्लिन कॉपर जॉनसन का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंध मानवीय सार्वभौमिक तथ्य के समक्ष एक मस्तिष्क की प्रतिक्रिया की भांति है जिसका उदय बीसवीं शताब्दी में हुआ। अतः इसे इतिहास या राजनीति शास्त्र की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है, बल्कि इसका दायरा इन दोनों से अधिक है। अतः इसके ज्ञान का भण्डार अन्य अनुशासन से भिन्न है तथा इसके मिलावट का तरीका इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों से विशिष्ट या स्वायत्त दर्जा प्रदान करता है।

1.6.2 स्वायत्त नहीं है जो विद्वान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत्त विषय नहीं मानते उनका मानना यह है कि इस विषय में ऐसी कोई विलक्षण वस्तु नहीं है कि इसे अध्ययन हेतु स्वायत्त माना जाए। उन्होंने निम्न तर्कों के आधार पर अपनी बात का समर्थन किया है—

- (क) उनका मानना है कि किसी भी विषय के स्वायत्त अस्तित्व हेतु कतिपय अर्हताएँ आवश्यक मानी जाती हैं, जैसे— प्रथम, समुचित एवं निश्चित विषय सामग्री का होना। द्वितीय, विषय सामग्री के अध्ययन हेतु निश्चित सिद्धान्त का होना। तृतीय, अध्ययन के विशिष्ट तरीकों पद्धति का होना। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में इन तीनों तत्वों का अभाव झलकता है। जहाँ एक विषय वस्तु की बात है इसका कोई निश्चित पाठ्य सामग्री नहीं है। यह एक विषय न होकर कई विषयों का समूह है। यह मुख्य रूप से कानून, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भूगोल तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के समावेश से बना है। यदि सिद्धान्तों की बात की जाए तो यह स्पष्ट होता है कि 1945 से पूर्व इसमें सिद्धान्त प्रतिपादन का अभाव रहा है। 1945 के बाद भी आंशिक दृष्टिकोणों का ही उत्पादन हुआ है, किसी भी सार्वभौमिक व सामान्य सिद्धान्त का अभाव आज भी बना हुआ है। इस विषय की पद्धतियों भी राजनीति विज्ञान या अन्य सामाजिक विज्ञानों से किसी भी रूप में अधिक भिन्न नहीं है। बल्कि इन विषयों की पद्धतियों को ही संशोधित एवं परिवर्तित रूप से अपनाया गया है।
- (ख) यह विषय मुख्य रूप से राज्यों के व्यवहार से संबंधित है अतः राज्यों के नीति निर्धारक तत्वों का अध्ययन करने हेतु राज्यों के नीति प्रक्रिया संबंधित सभी पहलुओं का अध्ययन अति आवश्यक होता है। इस प्रकार का अध्ययन केवल अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन से ही सम्भव नहीं हो सकता है। किसी भी नीति के समग्र अध्ययन हेतु उसके राजनैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, भूगोलिय, ऐतिहासिक आदि पहलुओं के बारे में जानना अति आवश्यक है। अतः अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सुचारु अध्ययन हेतु इन विषयों का अध्ययन भी अनिवार्य है। अतः इन अध्ययनों को अन्त अनुशासनीय होना आवश्यक है। इस

दृष्टि से भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र का ही एक भाग माना जा सकता है, इसे अधिक नहीं।

1.6.3 स्वायत्तता की ओर अग्रसर कुछ विद्वाना उपरोक्त दोनों प्रकार की बहस को निरर्थक मानते हैं। उनका मानना यह है कि उपरोक्त दोनों तर्कों को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए विकास के माध्यम से अधिक भली प्रकार से जाना जा सकता है। अतः 20वीं शताब्दी में, और विशेषकर 1945 के बाद, के विकास की समीक्षा अति अनिवार्य है। यदि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता के प्रश्न का गहन अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि इस सन्दर्भ में दो मूलभूत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। एक तो अंतर्राष्ट्रीय संबंध के स्वरूप, विषयवस्तु व अध्ययन के तरीकों में प्रभावी परिवर्तन आये है। दूसरा, इसी समय राजनीतिशास्त्र की परिधि की जटिलताओं एवं अपरिभाषित सीमाओं के विकास के कारण समस्या और बढ़ गई है। लेकिन 1919 से आज तक के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास पर नजर डालें तो स्पष्ट होता है कि इसकी उपलब्धियां इसे स्वायत्तता दिलाने में काफी सहायक सिद्ध होंगी।

1919 के बाद से ही विशेषकर अमेरिका में, बहुत से विद्वानों ने इस विषय को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने हेतु प्रयास किए हैं। इसके विषय वस्तु, तरीकों एवं सिद्धान्त को सुस्पष्ट करने के प्रयास भी हुए हैं। इन लेखकों के मुख्य रूप से पॉल, राईन्स, बर्न, जेम्स ब्राइट, हर्बर्ट, गिवन्स, रेमण्ड वुल, पार्कर, मून, शुभां, ऐलफर्ड जिमर्न, ई.एच.कार आदि का योगदान सराहनीय रहा है। इस संदर्भ में समीक्षा के पश्चात रिचर्ड स्मीथबील इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि (i) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति जैसा कोई स्वायत्त विषय 1945 तक उभर कर नहीं आया। (ii) एक पृथक विषय के सन्दर्भ में इसका अस्तित्व अभी भी संदेहास्पद है चूंकि इसका सार विशिष्ट, संक्षिप्त, तार्किक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से करना कठिन है, (iii) राजनैतिक चिन्तन, अंतर्राष्ट्रीय विधि व संगठन, कूटनीतिज्ञ इतिहास आदि इसके निर्णायक विषय है, तथा (iv) 1945 से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विषय के लेखकों में सिद्धान्त निर्माण के संबंध में अरुचि पाई गई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। इस क्षेत्र में हुए नये शोधों के आधार पर जहां एक ओर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषणात्मक संबंधों को बल मिला है, वहीं दूसरी ओर नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन भी हुआ है। अमेरिका में अनेक विद्वानों मुख्य रूप से मारगेन्थाऊ, रिचर्ड स्नाइडर, मॉर्टिन कापलान, कार्ल डब्ल्यू डॉयस, चार्लस मैकलेलैंड आदि ने इस ओर विशिष्ट योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त विकसित व विकासशील दोनों देशों के अध्ययन पर बल दिया है। इसकी विषय समाय्री का संकलन, सिद्धान्त प्रतिपादन एवं पद्धतियों का भी काफी विकास हुआ है। परन्तु आज भी सबसे महत्वपूर्ण कमी एक सार्वभौमिक/सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन का अभाव बना हुआ है।

शीतयुद्धोत्तर विश्व में इसका महत्व और बढ़ गया है। इस भूमण्डलीकरण के दौर में सभी राज्य एक प्रकार की आर्थिक व्यवस्था से जुड़ते जा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय मुद्दे जैसे पर्यावरण, आंतकवाद, नारीवाद, एड्स, ओजोन परत क्षीण होना, मानवाधिकार आदि राष्ट्रीय की बजाय मानवीय/मानवजाति से संबद्ध हो गए हैं। अतः आज इन सबके समाधान हेतु अंतर्राष्ट्रीय मंचों/संगठनों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। अब सार्वभौमिक सिद्धान्त को भी उत्तर आधुनिकवाद की दृष्टि से नकार कर व्यक्तिपरक एवं स्थानीय आधार पर अधिक बल दिया गया। अतः 1945 के बाद के विकास के आधार पर इसे स्वायत्तता की ओर अग्रसर कहा जा सकता है, जिसे 1991 के बाद शीत युद्ध के अंत की प्रक्रिया ने और सशक्त बनाने की कोशिश की है।

1.7 सांराश

इस अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परम्परागत व आधुनिक परिभाषाओं के माध्यम से इसके स्वरूप व विषय वस्तु पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ-साथ किस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से आज 2020 तक इसके

विकास के विभिन्न चरणों की विशेषताओं, कमीयों एवं उपलब्धियों का वर्णन किया गया है। अन्त में क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वायत्त विषय है या नहीं इसका तर्क पूर्ण विवेचन किया गया है। इन अध्ययनों के आधार यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यह विषय आंशिक रूप से स्वायत्त है तथा इस की बढ़ती हुई गतिविधियों के अनुरूप इसे पूर्ण रूप से स्वायत्त विषय भी माना जा सकता है।

1.8 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को परिभाषित करते हुए इसके स्वरूप का आंकलन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास के विभिन्न चरणों का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।
4. क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वायत्त विषय है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।

1.9 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्ट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय-2

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त : प्रमुख उपागम

अध्याय का ढांचा

2.1 प्रस्तावना

2.1.1 अध्याय के उद्देश्य

2.2 आदर्शवादी उपागम

2.3 यथार्थवादी उपागम

2.4 व्यवस्था परक उपागम

2.5 निर्णय परक उपागम

2.6 खेल उपागम

2.7 संचार उपागम

2.8 सारांश

2.9 प्रश्नावली

2.10 पाठन सामग्री

2.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जैसे-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन एक स्वायत्त विषय के रूप में होने लगा वैसे ही इसको समझने हेतु नवीन उपागम एवं सिद्धान्तों के बारे में चिन्तन प्रारम्भ हुआ। सन् 1945 के बाद युद्ध की स्थिति के उपरान्त प्रत्येक राज्यों ने अपने को व्यवस्थित करने के प्रयास किए। महाशक्तियों के पुनर्गठन स्वरूप भी नवीन परिस्थितियों में दो महाशक्तियाँ अमेरिका एवं सोवियत संघ-ऊभर कर सामने आईं। दोनों के बीच विभिन्न कारणों से सौहार्द की बजाय कटुता के सम्बन्ध बने। दोनों के बीच विरोधी विचारधारा के वर्चस्व स्थापित करने की प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई। जिसे शीतयुद्ध का नाम दिया गया। शायद राज्यों की इसी शक्ति संघर्ष के परिणाम स्वरूप यथार्थवाद के सिद्धान्त का जन्म हुआ। 1960 के दशक में व्यवहारवाद आन्दोलन के फलस्वरूप वैज्ञानिकता के अध्ययन को बल मिला। इसके परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्थापरक सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। इसके साथ-साथ कई अन्य आंशिक सिद्धान्तों जैसे निर्णयपरक, खेल व संचार का भी उदभव हुआ। वर्तमान अध्याय इन्हीं सभी उपागमों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।

2.1.1 अध्याय का उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु विभिन्न उपागमों की विस्तृत जानकारी प्रदान करना है। इन अध्ययनों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने हेतु सामान्य सिद्धान्तों का विकास करना

है। इनके आधार पर राज्यों के मध्य सम्बन्धों को सुनिश्चित रूप में समझना है। इन्हीं उपागमों के माध्यम से राज्यों के मध्य होने वाले संघर्षों व सहयोग की नीतियों को समझा जा सकता है। इन उपागमों के द्वारा वर्तमान विश्व व्यवस्था व भविष्य में बनने वाले विश्व व्यवस्था को समझना सरल हो जायेगा। अतः उपरोक्त सभी बिन्दुओं का वतुनिष्ठ एवं आलोचनात्मक वर्णन प्रस्तुत करना इस अध्याय का मूल उद्देश्य है।

2.2 आदर्शवादी उपागम

फ्रांसीसी क्रांति (1789) व अमेरिकी क्रान्ति (1776) को आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रेरणा माना गया है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कौण्डरसैट के 1795 में प्रकाशित ग्रंथ को विश्व समाज की रचना का आधार माना गया है। इसके प्रमुख समर्थक रहे हैं— कौण्डरसैट, वुडरो विल्सन, ब्रटन फिल्ड, बर्नार्ड रसल आदि। इनके द्वारा एक आदर्श विश्व की रचना की गई है कि जो अहिंसा व नैतिक आधारों पर आधारित होगा व युद्धों को त्याग देगा।

इस दृष्टिकोण की मूल मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

- क) मानव स्वभाव जन्म से ही बहुत अच्छा व सहयोगी प्रवृत्ति का रहा है।
- ख) मानव द्वारा दूसरों की मदद करने एवं कल्याण की भावना ने ही विकास को सम्भव बनाया है।
- ग) मानव स्वभाव में विकार व्यक्तियों के कारण नहीं बल्कि बुरी संस्थाओं के विकास के कारण आता है। मानव युद्ध की ओर भी इन संस्थाओं के कारण प्रेरित होता है।
- घ) युद्ध अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे खराब विशेषता है।
- ङ) युद्धों को रोकना असम्भव नहीं है, अपितु संस्थागत सुधारों के माध्यम से ऐसा करना सम्भव है।
- च) युद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय समस्या है, अतः इसका हल भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ही खोजना होगा, स्थानीय स्तर पर नहीं। इस दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट रूप से प्रकट होती हैं।—
 - (i) इस दृष्टिकोण के अंतर्गत नैतिक मूल्यों पर बल दिया गया है। अतः यह मानती है कि राज्यों के मध्य अच्छे संबंधों हेतु शक्ति की नहीं बल्कि नैतिक मूल्यों की आवश्यकता होती है। इसके अंतर्गत राज्यों के बीच भेदभाव समाप्त होंगे तथा परस्पर सहयोग का विकास होगा।
 - (ii) इसके अंतर्गत वर्तमान शक्ति व प्रतिस्पर्धा पर आधारित विश्व संस्था को छोड़कर एक शान्ति व नैतिकता पर आधारित विश्व सरकार बनानी चाहिए। इसमें संघात्मकता व नैतिक मूल्यों के आधार पर विश्व सरकार का गठन कर शक्ति की राजनीति को समाप्त करना चाहिए।
 - (iii) इसके अंतर्गत यह माना गया है कि युद्धों को कानून द्वारा रोका जा सकता है। कई अच्छे कानूनों द्वारा युद्ध करने की सम्भावनाओं को कानूनी रूप से अवैध घोषित किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के पालन द्वारा किसी भी प्रकार के युद्धों के संकट से बचा जा सकता है।
 - (iv) इस दृष्टिकोण के द्वारा हथियारों की हौड़ को समाप्त करने की बात कही गई है। उनका मानना है कि हथियारों का होना भी युद्धों की प्रवृत्तियों को जन्म देने में सहायक होता है। इसके अंतर्गत भावी हथियारों के साथ-साथ वर्तमान हथियारों की व्यवस्था को घटकार अंततः समाप्त करने की बात कही गयी है।
 - (v) इस दृष्टिकोण में किसी भी प्रकार की निरंकुश प्रवृत्तियों पर रोक लगाने की बात पर बल दिया गया है। आदर्शवादियों का मानना है कि टकराव हमेशा निरंकुशवादियों एवं प्रजातांत्रिक पद्धति में विश्वास रखने वालों के बीच होता है।
 - (vi) आदर्शवादियों का मानना है कि शान्तिपूर्ण विश्व की स्थापना हेतु राजनैतिक के साथ-साथ आर्थिक विश्व

व्यवस्था को भी बदलना होगा। इस सन्दर्भ में राज्यों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होती है।

- (vii) इस दृष्टिकोण के अंतर्गत एक आदर्श विश्व की कल्पना की गई है जिससे हिंसा, शक्ति, संघर्ष आदि का कोई स्थान नहीं होगा।
- (viii) इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत राज्य किसी शक्ति अथवा युद्धों की देन नहीं है। बल्कि राज्य का क्रमिक विकास हुआ है। यह विकास धीरे-धीरे मानव कल्याण व सहयोग पर आधारित है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की कुछ बिन्दुओं को लेकर आलोचना भी की गई है जो निम्न प्रकार से है—

- (i) सर्वप्रथम यह सिद्धान्त कल्पना पर आधारित है जिसका राष्ट्रों की वास्तविक राजनीति से कोई लेन-देन नहीं होता है। इस काल्पनिक विश्व के आधार पर यह मान लेना कि सब कुछ सुचारु रूप से चल रहा है गलत होगा।
- (ii) इस उपागम में नैतिकता पर जरूरत से अधिक बल दिया गया है। यह सत्य है कि नैतिकता के समाज में अपना महत्व है, परन्तु राष्ट्रों के मध्य राष्ट्रीय हितों के संघर्ष में शक्ति व कानून दोनों का विशेष स्थान होता है। बिना कानूनी व्यवस्था के राष्ट्रों को एक विश्व में बांधना बड़ा कठिन है तथा वास्तविकता की धरातल पर शक्ति के महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता।
- (iii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कोरी आदर्शवादिता पर भी नहीं चलाई जा सकती। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्यक अध्ययन हेतु शक्ति, युद्ध आदि वास्तविक तत्वों को अपनाना अपरिहार्य है। इन मूल यथार्थ प्रेरणाओं की उपेक्षा के कारण ही आदर्शवादी दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में विशेष सहायक नहीं रहा है। राष्ट्र संघ की असफलता इसका प्रत्यक्ष परिणाम है।
- (iv) आदर्शवाद के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संघात्मक व्यवस्था अथवा विश्व सरकार बनने की सम्भावनाएं बहुत कम प्रतीत होती हैं। इसका सबसे बड़ा कारण राष्ट्रों द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों हेतु अडिग रवैय्या अपना रहा है। आज के इस युग में कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों से समझौता नहीं करना चाहता तथा न ही वह अपने राष्ट्रीय हितों के एवज में किसी अन्य राष्ट्र के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु तैयार है।

2.3 यथार्थवादी उपागम

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु यथार्थवाद का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण है। यह आदर्शवादी उपागम में बिल्कुल विपरीत वास्तविकता के धरातल पर रह कर कार्य करता है। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में यथार्थवाद का महत्व रहा है। उसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह फिर अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया। इसके मुख्य समर्थकों मुख्य समर्थकों में मारगेन्थाऊ, ई.एच.कार., राइनोंल्ड नेबर, जार्ज केनन, केनेथ डब्ल्यू थामप्सन, हेनरी किंसीजर आदि हैं।

इस उपागम की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

- क) यह दृष्टिकोण तर्क एवं अनुभव पर आधारित है। इसमें नैतिकता तथा गैर-तार्किक तथ्यों को स्वीकार नहीं किया है।
- ख) यह सिद्धान्त शक्ति को अत्यधिक महत्व प्रदान करता है। तथा इसका मानना है कि राज्य हमेशा शक्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं।
- ग) इस उपागम का मानना है कि शक्ति के माध्यम से राज्य हमेशा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में लीन रहते हैं। इसीलिए वे हमेशा अपने हितों का ही ध्यान रखते हैं, तथा अन्य राष्ट्रों का नहीं।

- घ) यथार्थवादी इस शक्ति संघर्ष से निपटने हेतु मुख्यतः शक्ति संतुलन के तरीके का प्रयोग करते हैं। शक्ति स्पर्धा को सुचारू रखने हेतु इस प्रकार के तरीके को अपनाना अनिवार्य हो जाता है।
- ड) यह उपागम काल्पनिकता की बजाय हमेशा वास्तविकता में विश्वास करता है।
- च) इस दृष्टिकोण के अंतर्गत राष्ट्रीय हितों के बीच संघर्ष को टालने हेतु सभी राष्ट्रों के बीच के मध्य संतुलन स्थापित करने पर बल दिया जाता था।
- छ) इसके अंतर्गत प्रत्येक राष्ट्र के लिए हित ही सर्वोपरि होते हैं तथा सभी राष्ट्र इन्ही हितों की पूर्ति हेतु हमेशा संघर्षरत रहते हैं।
- ज) इस उपागम के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को अत्याधिक वैज्ञानिक एवं तर्कशील बनाने के प्रयास किए गए हैं।

यथार्थवाद की इन विशेषताओं को अलग-अलग विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। न ही सभी विद्वान इन सभी बातों का उल्लेख करते हैं तथा न ही ऐसी कोई सर्वसम्मति ही है। अपितु उपरोक्त विशेषताएं कुल मिलाकर विभिन्न यथार्थवादी समर्थकों के विचारों का सार है। परन्तु यथार्थवाद के एक सुस्पष्ट उपागम के रूप में स्थापित करने का कार्य मारगेन्थाऊ (पॉलिटिक्स अमंग नेशंज) ने किया है। उसके अनुसार यथार्थवादी दृष्टिकोण निम्नलिखित छः प्रमुख सिद्धान्तों पर आधारित है—

- (i) राजनीति को प्रभावित करने वाले सभी वस्तुनिष्ठ नियमों का जड़ मानव प्रकृति है। मारगेन्थाऊ का मत है कि मानव प्रकृति जिसमें राजनीति के नियम सन्निहित हैं, प्राचीन काल से आज तक मूल रूप से नहीं बदली है। अतः इस मानव प्रकृति स्वरूप यदि विदेश नीति का सही आकलन करना है तो हमें सर्वप्रथम अपने आपको उस राजनीतिज्ञ की जगह रखकर सोचना होगा जिसने कोई निर्णय लिया है। इसके समक्ष उपस्थित उन सभी निर्णयों के विकल्पों को जांचना होगा जिन्होंने सम्भावित रूप से उन निर्णयों को प्रभावित किया होगा। इस प्रकार की विवेकपूर्ण व तर्क संगत कल्पना से हम वस्तुनिष्ठ स्थिति एवं सत्य के अधिक नजदीक होंगे तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति हेतु एक वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का निम्नण कर सकेंगे।
- (ii) यथार्थवाद राष्ट्रीय हित को महत्वपूर्ण मानता है तथा राष्ट्रीय हितों की शक्ति के सन्दर्भ में परिभाषित करता है। उसका मानना है कि राजनीति का मुख्य आधार राष्ट्रीय हित एवं उसकी सुरक्षा है, इसीलिए राजनीति को शक्ति से अलग रखकर नहीं समझा जा सकता। मारगेन्थाऊ का मानना कि राष्ट्रहित की प्रधानता के कारण किसी देश की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य अन्य राष्ट्र को तुलना में सफलता प्रदान कर रहा है। यही कारण है कि विदेश नीति की सफलता को प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रहितों में संवर्धन से जोड़ा जाता है। इसलिए राजनेताओं के मंतव्यों और प्रोजनों पर आधारित विदेश नीति का आकलन हो सकता है। लेकिन मारगेन्थाऊ यह भी सचेत करता है कि इस सन्दर्भ में हमें राजनेताओं की 'नीयत' व 'विचारों' की प्राथमिकताओं से सुरक्षा प्रदान करने की भ्रातियों से भी बचना चाहिए। इसके साथ-साथ राजनेताओं के 'व्यक्तिगत विचार' एवं राजनैतिक उत्तरदायित्व' को भी हमें अलग-अलग रखना पड़ेगा।
- (iii) मारगेन्थाऊ का मानना है कि राष्ट्रहित का कोई निश्चित या निर्धारित अर्थ नहीं होता। मारगेन्थाऊ के अनुसार शक्ति व राष्ट्रीय हित दोनों ही गतिशील होते हैं इनके परिवर्तन में अंतर्राष्ट्रीय परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यदि परिवेश बदल जाता है तो उसके अनुरूप हितों में परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाता है। अतः शक्ति के रूप में परिभाषित हित भी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व शाश्वत हैं। परन्तु परिस्थितियों थोड़ी बहुत बदलती रहती हैं। अतः एक सफल राजनेता को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्वों को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निरूपित करने का सतत प्रयास जारी रखना चाहिए।

- (iv) यथार्थवादी मानते हैं कि राज्यों के कार्यों में कोई सार्वभौमिक नैतिकता का महत्व है परन्तु वह अमूर्त व सार्वभौमिक नहीं हो सकती। इसके विपरीत इसे समय व स्थान की ठोस परिस्थितियों को कसौटी से बंधा होना चाहिए और परिस्थितियों के अनुकूल उसका चयन करना चाहिए। इनके अनुसार नैतिक सिद्धान्तों का पालन विवेक और सम्भावित परिणामों के आधार पर होना चाहिए। बिना विवेक के राजनैतिक नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसीलिए कोई भी राष्ट्र नैतिकता के आधार पर अपनी सुरक्षा को खतरे में नहीं डाल सकता।
- (v) किसी भी राष्ट्र के नैतिक मूल्य सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों से भिन्न होते हैं। किसी सार्वभौमिक नैतिक कानून का पालन एक देश-विशेष के लिए आवश्यक रूप से लाभदायक हो ही, यह सत्य नहीं है। सम्भव है वह उसके लिए भयंकर परिणाम पैदा कर दें। अतः नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने देश के हितों को बलिदान कर देने वाला व्यक्ति राजनैतिक दृष्टि से बुद्धिमान नहीं माना जा सकता। दूसरे ओर राजनैतिक उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए नैतिकता को तिलांजलि देना इतिहासकारों की नजर में प्रशंसनीय कार्य नहीं है। इन दोनों प्रकार की अतियों के संदर्भ में इन दोनों ही परिस्थितियों से बचना चाहिए। अतः प्रत्येक राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय हित की दिशा में अग्रसर होना पड़ेगा। अतः किसी भी एक राष्ट्र का मूल्य सार्वभौमिक नैतिक मूल्य नहीं हो सकता।
- (vi) अन्तिम सिद्धांत में मारगेन्थाऊ ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्त विषय के रूप में अध्ययन करने हेतु बल दिया है। उसका मानना है कि जिस प्रकार अर्थशास्त्र में हित आर्थिक कारणों के कारण होते हैं उसी प्रकार राजनीति में राष्ट्रीय हित शक्ति पर आधारित होते हैं। उनका मानना है कि बौद्धिक रूप में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर स्वतन्त्र क्षेत्र है, जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि हैं। राजनैतिक यथार्थवाद मानव-प्रकृति के बाहुल्य स्वरूप को मानता है। उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति एक समय में आर्थिक मानव, राजनैतिक मानव, नैतिक मानव, धार्मिक मानव आदि कई प्रकार के उत्तरदायित्व निभाता है। यदि उसके इन सभी स्वरूप का गहन अध्ययन करना चाहे, तो उसके अन्य स्वरूपों को हमें परस्पर अलग रखना होगा क्योंकि तभी यह अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न हो सकेगा। राजनैतिक यथार्थवाद में राजनीति की स्वतन्त्रता पर अत्याधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार से राजनीति के विभिन्न स्वरूप होते हैं और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति उसमें से एक है। अतः हमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के गहन व सुव्यवस्थित रूप से अध्ययन करने हेतु इसे स्वायत्त रूप में अध्ययन करना चाहिए।

यथार्थवाद के सामान्य सिद्धान्तों एवं मारगेन्थाऊ द्वारा प्रतिपादित उपागम की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएं भी की गई हैं—

- (क) यथार्थवादी उपागम की आलोचना सर्वप्रथम इस आधार पर की गई है कि इसमें शक्ति की जरूरत से ज्यादा बल दिया गया है जो उचित नहीं है। राष्ट्रीय हितों को सुचारू रखने या प्राप्त करने हेतु बहुमुखी कारक कार्यरत होते हैं। मात्र शक्ति को ही कारण मानना सही नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि यह मान लिया जाए कि राज्य हमेशा शक्ति संघर्ष में ही व्यस्त रहते हैं तो विश्व व्यवस्था ध्वस्त हो जाएगी। वास्तविक रूप में राज्य के मध्य संघर्षों के साथ-साथ सहयोग भी विकसित होता है। इस उपागम के शक्ति को ही साध्य मान लिया गया, यह अनुचित है। क्योंकि शक्ति तो मात्र साधन है राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु। अतः यह अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता।
- (ख) यथार्थवादी उपागम की मानव प्रकृति के सन्दर्भ में अवधारणा भी गलत है। इसके आधार पर मनुष्य को हमेशा संघर्षरत माना गया है जबकि मानव प्रकृति का यह एकांगी पक्ष है। उसका दूसरा पहलू सहयोग का भी है। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हमेशा निर्णय मानव प्रकृति द्वारा ही निर्धारित नहीं होते।

निर्णायकों की भूमिका महत्वपूर्ण तो होती है लेकिन सभी सन्दर्भ में उस समय की परिस्थितियां व समय अति महत्वपूर्ण कारक की भूमिका निभाते हैं। इसलिए अलग-अलग परिस्थितियों में निर्णय लेने वाले वही निर्णायक अलग-अलग निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

- (ग) राष्ट्रीय हित के संदर्भ में भी मारगेन्थाऊ का आकलन दोषपूर्ण है। उसके अनुसार राष्ट्रीय हित के बारे में सर्वसम्मति है कि राष्ट्रीय हित हमेशा शक्ति के सन्दर्भ में ही परिभाषित होते हैं। लेकिन इस बारे में प्राचीन समय में शायद सर्वसम्मति रही हों लेकिन वर्तमान समय में यह मानना उचित नहीं है। वर्तमान में यह विरोधों एवं अंतर्विरोधों से परिपूर्ण है। भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों, औद्योगिक क्षमताओं तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के कारण हमारी पूर्व मान्यताओं में काफी बदलाव आ चुका है। इन परिवर्तित परिस्थितियों एवं मान्यताओं के सन्दर्भ में यह विचार सर्वथा दोषपूर्ण है कि राष्ट्रीय हितों पर राज्यों में सर्वसम्मति मिलती है।
- (घ) यथार्थवाद के उपागम के विरोधभाव भी स्पष्ट रूप में प्रतीत होते हैं। मारगेन्थाऊ अपने दृष्टिकोण के प्रारम्भ में मनुष्य को स्वार्थी तथा राज्यों को शक्ति के माध्यम से राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में लगे हुए पाता है। लेकिन अपनी पुस्तक में अन्त तक पहुंचते-पहुंचते वह मानने लगा कि राजनय ही सबसे उचित रास्ता है। लेकिन अच्छे राजनय हेतु अच्छे राजनीतिज्ञ की आवश्यकता है तथा उसके अनुसार राजनीतिज्ञ हमेशा स्वार्थी हितों की पूर्ति में लगाया रहेगा। इस प्रकार मारगेन्थाऊ के विचारों में यह विरोधभाव स्पष्ट रूप से प्रकट रहा है।
- (ङ) मारगेन्थाऊ के उपागम में शक्ति/राजनीति कारकों के अतिरिक्त अन्य सभी कारकों की अवहेलना की गई है। इसके अनुसार तो उदाहरणस्वरूप यदि कोई सम्बन्ध जो शक्ति से नहीं जुड़ा वह राजनैतिक संबंध नहीं है। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी आयम हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इससे जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त, मारगेन्थाऊ इस बात में भी सफल नहीं रहे कि राजनैतिक गतिविधियों को गैर- राजनैतिक गतिविधियों से अलग किया जा सके।

उपरोक्त कमियों के बाद भी यह उपागम निरर्थक नहीं है। यह वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त, यह अन्य उपागमों से उचित संतुष्ट एवं वैज्ञानिक है। तीसरा यह आदर्शावाद एवं वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्थापना के बीच एक सेतु का काम कर रहा है। अतः भले ही इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्त के रूप में भले ही स्वीकार न करें, परन्तु एक पक्षीय सिद्धान्त के रूप में इसे स्वीकार न करना, मारगेन्थाऊ के प्रति अन्याय होगा।

2.4 व्यवस्था परक उपागम

‘व्यवस्था’ शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1920 के दशक में लुडविग वॉन बर्टलेन्फी ने जीवविज्ञान में किया। उसका मुख्या अभिप्राय सभी विज्ञानों को जोड़ना रहा था। जीव विज्ञान से यह अवधारणा मानव विज्ञान, समाजशास्त्र व मनोविज्ञान में प्रयोग होने लगी। समाजशास्त्र से इसे राजनीति शास्त्र में अपनाया गया। इस विषय में राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु डेविड ईस्टन एवं गेबीरियाल आमण्ड ने प्रयोग किया तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मार्टिन काप्लान ने किया। अतः सिद्धान्त को प्रमुख रूप से राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद विकसित हुआ माना जा सकता है।

इस उपागम से पूर्व यह जानना अति आवश्यक है कि यहां इस अवधारणा का क्या अर्थ लिया गया है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों में इस पर सर्वसम्मति नहीं है, तथापि मुख्य रूप से व्यवस्था से अभिप्राय राष्ट्र राज्यों का वह समुच्चय है जो नियमित एवं अनवरत रूप से अन्तः क्रिया करते रहते हैं। इस प्रकार यह अवधारणा गतिशील होने के साथ-साथ राष्ट्र राज्यों के व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं। यह माना जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन राष्ट्र राज्यों में आये बदलाव के कारण ही होता है, चाहे उनके व्यवहार में परिवर्तन का कारण कोई भी हो। व्यवस्थापरक उपागम द्वारा इन परिवर्तनों को समझने के प्रयास किए जाते हैं। अतः इस दृष्टिकोण का

मुख्य उद्देश्य अतीत एवं वर्तमान के साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भावी स्वरूप को उजागर करता है।

इस दृष्टिकोण के समर्थकों में मुख्यतः जेम्स एन. रोजनारु, कैनेथ बोल्डिंग, जार्ज लिस्का, आर्थर ली बर्न्स आदि के नाम सम्मिलित हैं। लेकिन इस अवधारणा को सुस्पष्ट उपागम दृष्टिकोण का स्वरूप मॉर्टन काप्लान ने प्रदान किया। अतः व्यवस्था उपागम को सामान्यतया काप्लान के नाम से ही जाना जाता है।

काप्लान के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अति महत्वपूर्ण है। परन्तु वह अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को राजनीति व्यवस्था नहीं मानता क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में निर्णयकर्ताओं की भूमिका राष्ट्रीय व्यवस्था ने उनके द्वारा निर्वाह की जाने वाली भूमिका के अधीनस्थ होती है। फलतः अंतर्राष्ट्रीय मामलों के क्षेत्र में कार्यकर्ताओं का व्यवहार सदा राष्ट्रीय हित के मौलिक विचार से प्रेरित होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था दो प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का समुच्चय होता है— (i) राष्ट्रीय कार्यकर्ता (भारत, अमेरिका, नेपाल, रूस आदि) — (ii) अधिराष्ट्रीय कार्यकर्ता (नाटो, आशियान, यूरोपीय संघ आदि। काप्लान के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अवयव हैं। तथा अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही उन्हीं के बीच में होती हैं। इन मान्यताओं पर आधारित काप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को छः प्रतिमानों की कल्पना की है जो निम्नलिखित है।

1. **शक्ति संतुलन व्यवस्था**— काप्लान का मानना है कि प्रथम प्रतिमान शक्ति संतुलन व्यवस्था थी जो 18वीं 19वीं शताब्दी में प्रचलित रही। इस व्यवस्था के अंतर्गत 4-4 बड़ी शक्तियों व बाकी अन्य राज्यों का होना आवश्यक है। शक्ति संचालन हेतु छः महत्वपूर्ण नियमों का पालन किया जाना आवश्यक है— (i) प्रत्येक मुख्य राष्ट्र अपनी क्षमताओं का विकास राजनय के माध्यम से करें, युद्ध के द्वारा नहीं — (ii) प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य का प्रमुख कर्तव्य अपने हितों की सुरक्षा है और क्षमताओं के विकास के बिना हितों की सुरक्षा सम्भव नहीं है। अतः आवश्यकता हो तो युद्ध के खतरे को उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ाया जाए। — (iii) राष्ट्रों को किसी ऐसे गुट के निर्माण का विरोध करना जो व्यवस्था में प्रभुत्व अपना आधिपत्य की स्थिति ग्रहण कर ले। (v) किसी शक्ति अथवा राष्ट्र को अथवा अन्य राज्यों को राष्ट्रपरि सिद्धान्तों पर चलने से रोकना — (vi) किसी मुख्य पराजित राष्ट्र को व्यवस्था में पुनः शामिल कर लेना।

इस प्रकार यह शक्ति संतुलन का सिद्धान्त 18वीं व 19वीं शताब्दी में तो कारगर रहा, परन्तु 20 वीं शताब्दी के परिवर्तित परिवेश में यह नहीं दिखाई पड़ा। इस प्रकार के व्यवस्था में यदि कोई प्रमुख कार्यकर्ता किसी भी रूप में अंतर्राष्ट्रीय या अधिराष्ट्रीय निरंकुशता सोपित करना चाहेगा तो शक्ति संतुलन का सिद्धान्त बदल जायेगा क्योंकि यह विशेष राष्ट्रवाद के मूल्यों का विरोधी है। अगर यह शक्ति संतुलन अस्थिर हो जायेगा तो अवश्य यह नये प्रतिमान को जन्म देगा। शक्ति संतुलन से सम्भावित बदलाव द्वि- ध्रुवीय व्यवस्था को जन्म देगा।

2. **शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था** — काप्लान के अनुसार शक्ति संतुलन के बाद शिथिल द्वि-ध्रुवीय प्रतिमान स्थापित होगा। मुख्य रूप से यह शीतयुद्ध के उन प्रारम्भिक वर्षों की है जहाँ दो महाशक्तियों के अतिरिक्त गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से जुड़े कुछ छोटे राष्ट्रों का समूह भी मौजूद था। गुटनिरपेक्ष देशों के आन्दोलन के अतिस्तत्व ने ही तो दोनों महाशक्तियों को थोड़ा शिथिल बना दिया। यह व्यवस्था कई अर्थों में शक्ति संतुलन की भागीदारी भी थी।

- I. इसमें राष्ट्र राज्यों के साथ-साथ अधिराष्ट्रीय कारकों की भागीदारी भी थी।
- II. अधिराष्ट्रीय कार्यकर्ता की नॉटों, वारसा पैक्ट या संयुक्त राष्ट्र जैसे कई भागों में विभक्त था।
- III. इसके अंतर्गत तीन प्रकार के सदस्य थे— दो प्रमुख गुट (पूँजीवादी एवं साम्यवादी), गैर— सदस्यी

देश (गुट निरपेक्ष देश) तथा सार्वभौमिक कार्यकर्ता (संयुक्त राष्ट्र)।

परन्तु इस प्रणाली में भी कई प्रकार के अन्तर्द्वंदो का अस्तित्व था। इसीलिए कॉप्लान का मानना था कि यह दृढ़ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को जन्म देगा।

3. **दृढ़ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था**— इस व्यवस्था में दो प्रमुख गुटों का ही अस्तित्व होगा। व्यवस्था केवल इन गुटों के इर्द-गिर्द ही घुमती है। इस व्यवस्था में गैर-सदस्य कार्यकर्ता (गुटनिरपेक्ष देश) तथा विश्वव्यापी कार्यकर्ता (संयुक्त राष्ट्र) की भूमिका महत्वहीन हो जाती है या उनका लोप हो जाता है। परन्तु इस व्यवस्था के स्थायित्व की गारंटी तभी होती है जब दोनों गुटों के कार्यकर्ता गोपनीय पद्धति से संगठित हों, अन्यथा वह व्यवस्था पुनः शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था से परिणत होने लगती है। इस व्यवस्था में विश्वव्यापी कार्यकर्ता (संयुक्त राष्ट्र) की भूमिका कमजोर होने के कारण यह दोनों गुटों की राजनीति में कोई प्रभावी मध्यस्थता भी करने में असमर्थ हो जाता है। अतः दोनों ध्रुव ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण बिन्दु बन जाते हैं।
4. **सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था**— शिथिल द्वि ध्रुवीय व्यवस्था में परिवर्तन के बाद अगला प्रतिमान सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आता है। यदि शिथिल ध्रुवीय व्यवस्था में सार्वभौमिक कार्यकर्ता इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के मध्य युद्धों को रोक सकता है तथा इसके साथ-साथ इन कार्यकर्ताओं को अपनी पहचान बनाने व शक्ति संग्रह की छूट भी दे सकता है। परन्तु ये राष्ट्रीय कार्यकर्ता इन शक्तियों का प्रयोग सार्वभौमिक कार्यकर्ता की छत्रछाया में ही पूर्ण करेंगे। इसके विरुद्ध कभी नहीं करेंगे। ये अपनी शक्ति का प्रयोग शान्तिपूर्ण रूप से करेंगे। इस स्थिति में इनके राष्ट्रीयहित व सार्वभौमिक हितों के मध्य भी समन्वय विकसित किया जाएगा। परन्तु सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के पास शक्ति प्रधानता की सम्भावना नहीं रहती है, अतः कॉप्लान का मानना है कि इस व्यवस्था में स्थायित्व के पूर्ण लम्बे समय तक अस्थिरयित्वता बने रहने की सम्भावना है।
5. **सोपानीय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था**— इस व्यवस्था का उदय तब होता है जब एक सार्वभौमिक कार्यकर्ता प्रायः पूरे विश्व को समेट लेता है और केवल एक राष्ट्र बाहर रह जाता है। यह व्यवस्था लोकतान्त्रिक या सतावादी दोनों प्रकार की हो सकती है। लोकतान्त्रिक सोपानीय व्यवस्था को गैर-निदेशात्मक तथा सतावादी सोपानीय व्यवस्था को निदेशात्मक भी कहते हैं। जब निरंकुश राज्य द्वारा की गई विश्व विजय के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय कार्यकर्ता का उदय होता है तो उसे निदेशात्मक या सतावादी सोपानीय व्यवस्था कहा जाता है। इसके विपरीत यदि लोकतान्त्रिक राज्यों में प्रचलित नियमों के अनुसार राष्ट्रीय कार्यकर्ता का उदय होता है तो उसे गैर निदेशात्मक सोपानीय व्यवस्था कहा जाता है तुलनात्मक रूप से निदेशात्मक प्रणाली में अधिक तनाव बना रहता है। परन्तु इस व्यवस्था में प्रकार्यात्मक तत्व भौगोलिक तत्वों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ माने जाते हैं इस व्यवस्था में अधिक एकीकरण के कारण स्थायित्व भी बड़ी मात्रा में पाया जाता है।
6. **ईकाई वीटों व्यवस्था**— कॉप्लान के अनुसार अन्तिम प्रतिमान ईकाई निषेधिकार व्यवस्था है। इसमें ऐसे घातक शस्त्रों का अस्तित्व होगा कि कोई राष्ट्र स्वयं नष्ट होने से पूर्व दूसरों को नष्ट कर देने में समर्थ हो। यह स्थिति इस प्रकार की बन जाती है कि मानों सभी राष्ट्रों की वीटों का अधिकार प्राप्त हो अथवा उनके स्वयं के निर्णय अन्तिम माने जायेंगे। इस व्यवस्था में सार्वभौमिक कार्यकर्ताओं के निर्णयों का भी कोई महत्व नहीं रह जाता। कॉप्लान के अनुसार इस प्रकार की व्यवस्था किसी भी प्रतिमान के फलस्वरूप पैदा हो सकती है। यह व्यवस्था तभी स्थाई/स्थिर हो सकती है जब अशान्ति या समस्याओं के समय सभी राष्ट्र सामूहिक रूप से उस राष्ट्र के विरुद्ध खड़े हो जाए जिसने यह गड़बड़ी फैलाई है।

परन्तु जब कॉप्लान ने यह महसूस किया कि 1959 में उसके द्वारा प्रदत्त व्यवस्था उपागम में दिये गए प्रतिमान परिवर्तित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से मेल नहीं खा रहे तो उसने चार नये प्रतिमान भी उसमें सम्मिलित कर लिए जो

इस प्रकार से हैं—

- क) अति शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था
- ख) तनाव शैथिल्य व्यवस्था
- ग) अस्थाई गुट व्यवस्था
- घ) अपूर्ण आणविक विस्तृत व्यवस्था

- (क) इस व्यवस्था में गुट कार्यकर्ताओं के मध्य हथियारों के नियंत्रण हेतु सतत शोध होते रहते हैं। विभिन्न गुटों द्वारा परस्पर हितों को जगह देने की निरन्तर कोशिशें होती रही है। फलस्वरूप गुटीय संरचना कमजोर नजर आती है। फिर भी निम्न गुटों द्वारा विश्वव्यापी संगठन के भीतर निष्पक्ष या तटस्थ कार्यकर्ताओं का समर्थन प्राप्त करने हेतु प्रतिद्वन्द्विता जारी रहती है।
- (ख) इस व्यवस्था के अंतर्गत दोनों प्रमुख कार्यकर्ताओं के बीच परस्पर तनाव शैथिल्य स्थापित होता रहा है। इसके अंतर्गत कुछ सीमा तक दोनों महाशक्तियों के मध्य परस्पर सहमति व्यवस्था बन जाना है। यद्यपि दोनों के बीच मतभेद आज भी बने रहें, परन्तु किसी भी प्रकार से ये मतभेद युद्ध की सीमा तक नहीं पहुंचे।
- (ग) इस व्यवस्था में दोनों महाशक्तियों के बीच तनावों का बढ़ जाना प्रमुख रहा है। इसी तनाव के कारण दोनों एक दूसरे के प्रति आशंकित रहते हैं। परमाणु हथियार नियंत्रण संबंधित किसी भी बात पर सहमति नहीं बन पाती। दोनों के बीच संघर्ष बढ़ते हैं तथा सार्वभौमिक कारक की भूमिका केवल दोनों की इच्छा तक ही मध्यस्थ तक सीमित होती है।
- (घ) यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें दोनो महाशक्तियों के अतिरिक्त 10-15 अन्य देशों की परमाणु शस्त्र सम्पन्न राष्ट्रों की श्रेणी में आ जाते हैं यद्यपि छोटे परमाणु राष्ट्रों के संदर्भ में सन्धियाँ होना असम्भव है।

यद्यपि कॉप्लान ने एक बहुत ही व्यापक ढांचागत उपागम प्रस्तुत किया है। इसकी सार्थकता बनाये रखने के लिए इसमें संशोधन भी प्रस्तुत किए। परन्तु शीतयुद्धोत्तर युग में हुए परिवर्तनों के कारण इस व्यवस्थापरक उपागम पर ही प्रश्न चिन्ह लग गये। इसके साथ-साथ कई अन्य कारणों से इस उपागम की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं—

- I. सर्वप्रथम कॉप्लान के प्रतिमानों की इस आधार पर आलोचना की गई है कि उसका अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को छः भागों (बाद में 10 भागों) में बॉटना स्वेच्छा पर आधारित था। इस प्रकार के विभाजन के पीछे किसी भी प्रकार के तर्क भी नहीं प्रस्तुत किए। इसीलिए न तो उसके प्रतिमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की कसौटी पर खरे उतर सकें तथा न ही वे कोई उपयुक्त भविष्यवाणियाँ करने में सक्षम रहे।
- II. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में परिवर्तन एक क्रमबद्ध तरीके से नहीं हुआ जैसा काप्लान ने सोचा था। उदाहरणस्वरूप, कॉप्लान का मानना था कि द्वि ध्रुवीय व्यवस्था में पहले शिथिलता आयेगी व बाद में दृढ़ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था आयेगी। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी प्रकार, 1991 में शीतयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अस्तित्व में आने के साथ एक ध्रुवीय व बहु ध्रुवीय व्यवस्था की स्थापना पर वाद-विवाद चल रहा है। आने वाले कुछ वर्ष तय करेंगे कि इस संक्रमण काल की परिणति एक ध्रुवीय या बहुध्रुवीय या कोई अन्य वकैल्पिक व्यवस्था के रूप में होगी।
- III. कॉप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति हेतु छः प्रतिमानों के निरूपण करते समय उन महत्वपूर्ण तत्वों को भी अवहेलना की है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त,

कॉप्लान ने मात्र राष्ट्रीय हित ही एक कारण माना है, परन्तु इस दृष्टि से भी राष्ट्रीय हित को परिभाषित करना आवश्यक था, वह भी कॉप्लान ने नहीं किया।

IV. कॉप्लान द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न प्रकार के कार्यकर्ताओं की चर्चा की गयी है, जैसे— आवश्यक, लघु राष्ट्रीय आदि। परन्तु वास्तव में कौन कार्यकर्ता किस समय यह भूमिका किस रूप में निभा रहा यह कहना व उसको पहचानना अति कठिन होता है

अन्त में हम कह सकते हैं कि विभिन्न कमियों के बावजूद भी कॉप्लान का प्रयास सराहनीय है। उसके द्वारा स्थापित प्रतिमान किसी न किसी रूप से अलग-अलग समयों में प्रचलित रहे हैं। कई लेखकों ने भी इस उपागम को लेकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का आकलन करने के प्रयास किए हैं। कॉप्लान ने भी इस उपागम की सफलता हेतु कठोर परिश्रम किया है। यद्यपि पूर्ण रूप से तो नहीं पर कुछ हद तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के वैज्ञानिक विश्लेषण हेतु सार्थक प्रयास है।

2.5 निर्णय परक उपागम

निर्णय परक उपागम राजनीति शास्त्र के अध्ययन हेतु व्यवहारवादी आंदोलन से प्रेरित है। यद्यपि विभिन्न लेखकों ने इस संदर्भ में लिखा है, परन्तु इसे उपागम के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय रिचर्ड सी स्नाइडर व उसके साथियों एच, डब्ल्यू बर्क तथा बर्टन सापिन हो जाता है। 1954 में इन तीनों ने मिलकर लिखी पुस्तक—डिसिजन मेकिंग एज एन अप्रोच टू द स्टडी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स—में सर्वप्रथम इसे प्रस्तुत किया गया। निर्णय परक सिद्धान्त के आंकलन से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि नीति निर्माण व निर्णय निर्माण कई सन्दर्भों में बिल्कुल अलग अवधारणाएं हैं।

निर्णय परक दृष्टिकोण का मानना है कि (i) निर्णय निर्माण का अध्ययन उसी राज्य की पृष्ठभूमि के संदर्भ में होना चाहिए जिस परिवेश का वह भाग है। (ii) इसका अध्ययन उन परिकल्पनाओं के आधार पर किया जाना चाहिए जिस आधार पर निर्णय लेने वाला विश्व की पुनर्चना करना चाहता है। इस दृष्टिकोण को विकसित करने के बारे में दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं— (क) प्रत्येक देश के उन तार्किक संरचनाओं का पहचानना आवश्यक है जहां परिवर्तन होते हैं, निर्णय लिए जाते हैं, कार्यवाहियां की जाती हैं आदि। (ख) निर्णय लेने वालों के व्यवहार की परिस्थितियों का सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस उपागम का मुख्य विचार है कि अंतर्राष्ट्रीय के मुख्य अभिकर्ता तो राष्ट्र हित होते हैं, परन्तु अपनी इस भूमिका का प्रयोग कुछ व्यक्तियों के माध्यम से ही करता है। अतः राष्ट्रों के व्यवहार का सही आंकलन राष्ट्र के उन प्रतिनिधियों के व्यवहार द्वारा संभव हो सकता है। अतः निर्णयकर्ता के व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस प्रकार उस सारी प्रक्रिया का अध्ययन किया जाना चाहिए जिसके माध्यम से वह निर्णय लेने वाला गुजरता है। अतः स्नाइडर व अन्य विद्वानों का मानना है। कि किसी भी निर्णय को समझने हेतु यह जानना आवश्यक है कि (i) निर्णय किसने लिया? (ii) किन-किन बौद्धिक एवं अंतः क्रियाओं के माध्यम से वह/वे व्यक्ति इस निर्णय पर पहुंचे? स्नाइडर के अनुसार निर्णय लेने वाले मुख्य रूप से तीन बातों से प्रभावित होते हैं।

- i. सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव निर्णय वाले पर समाज के आन्तरिक परिवेश का होता है। इस आन्तरिक परिवेश में जनमत के साथ साथ उसका व्यक्तित्व, भूमिकाएं, सामाजिक मूल्य, नागरिकों का चरित्र, उनकी मांगें, सामाजिक संगठन की मुख्य विशेषताएं जैसे समूह संरचना, सामाजिक प्रक्रियाएं, विभेदीकरण, ढांचागत स्थिति आदि उसे अत्यधिक प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त समाज की भौतिक व प्रौद्योगिकी स्थिति भी महत्वपूर्ण होती है।

- ii. आन्तरिक के साथ-साथ बाह्य परिवेश भी उतना ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। इसमें मुख्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संकट, संघर्ष व सहयोग, महाशक्तियों की भूमिका, पड़ोसियों का रूख आदि महत्वपूर्ण होते हैं। अतः दुनिया के अन्य राष्ट्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का भी व्यापक असर निर्णायकों पर पड़ता है।
- iii. आन्तरिक व बाह्य वातावरण के साथ-साथ प्रक्रिया की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण होती है। इसके मुख्य रूप से प्रशासनिक ढांचे, सरकारी व गैर सरकारी अभिकर्ताओं की परस्पर क्रिया, कार्यपालिका व विधानमण्डल की अन्तः क्रिया आदि का प्रभाव भी महत्व रखता है।

इस प्रकार स्नाइडर ने राज्य को निर्णय लेने वालों के रूप में माना है। अतः इन निर्णय लेने वालों के व्यवहार के अध्ययन से अनुभव सिद्ध शोध सम्भव है। इस प्रकार व्यवहारवाद के माध्यम से स्नाइडर ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया है। सैद्धान्तिक रूप में तो स्नाइडर के समर्थक उसकी मुख्य अवधारणा को मानते हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में समर्थकों की कार्य शैली में थोड़ा अलगाव है। परन्तु वे सभी भी निर्णय परक उपागम की मूल मान्यताओं से सहमत हैं।

निर्णय परक उपागम की विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से आलोचनाएं भी की हैं जो निम्नलिखित हैं—

- I. सर्वप्रथम कुछ आलोचक इस सिद्धान्त को अति तर्कशील तो कुछ इसे तर्क विहीन कहकर आलोचना करते हैं। जो इस उपागम को अति तर्कशील मानते हैं उनका कहना है कि इस उपागम के अनुसार निर्णय लेने वाले— (क) निर्णय के सभी वर्गों व उप वर्गों व उप वर्गों के फायदे व नुकसान का आकलन करते हैं। (ख) फिर कई विकल्प बनाते हैं। (ग) प्रत्येक विकल्प पर समान गम्भीरता से विचार करते हैं तथा (घ) फिर कई विकल्प चुनते हैं। परन्तु दूसरी ओर तर्क विहीनता के संदर्भ में आलोचकों का कहना है कि स्नाइडर ने कभी नहीं कहा कि (क) निर्णय लेने वाले जाने या अनजाने में मूल्यों के बारे में सोचें। (ख) उपलब्ध साधनों के बारे में स्पष्ट या अस्पष्ट विचार रखें। (ग) अपने संसाधनों का लक्ष्य के साथ मेल करें तथा अंततः कुछ विकल्पों को चुनें।
- II. आलोचकों का मानना है कि इस अध्ययन करने हेतु शोधकर्ता का मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ होना आवश्यक है। क्योंकि स्नाइडर का मानना है कि विदेश नीति के शोधकर्ता को निर्णय लेने वाले के उद्देश्य को नकारना नहीं चाहिए। क्योंकि इस निर्णय लेने वालों के राजनैतिक उद्देश्य उनके व्यक्तिगत उद्देश्यों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।
- III. इस उपागम की एक आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह एक विश्वसनीय सिद्धान्त के प्रतिपादन में असफल रहा है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत निर्णयों को कई वर्ग व उपवर्गों में बांट दिया गया है, बल्कि उसी एक समग्र प्रस्तुती नहीं की गई। इसके माध्यम से किसी भी निर्णय लेने में आन्तरिक, बाह्य तथा प्रक्रिया संबंधी कमजोरी एवं ताकत को तो दर्शाया गया है। परन्तु ये तीनों ही स्थितियां अलग-अलग निर्णयों को अलग-अलग रूप से प्रभावित करती हैं, कोई एक समग्र या सामान्यीकरण प्रस्तुत नहीं करती है।
- IV. इस उपागम को व्यवहारवादियों की भांति मूल्य रहित रखने की बात की है, परन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत है। विदेश नीति संबंधी मामलों का मूल्य रहित आंकलन उन्हीं निर्णयों पर लागू होता है जो मामले हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त, मुद्दों के विश्लेषण में निर्णयों के सही या गलत होने का फैसला भी इस उपागम के माध्यम से सम्भव नहीं है। अन्ततः प्रत्येक निर्णय का सही या गलत होना उस राष्ट्र से समृद्ध मूल्यों पर ही टिका होता है, मूल्य-रहितता पर नहीं।

V. यह दृष्टिकोण समस्या के समाधान में भी सहायक नहीं है। इस उपागम के माध्यम से यह जानकारी तो मिल जाती है कि अमुक निर्णय क्यों, कहां व किसने लिया। परन्तु उसके परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा, समस्या का समाधान हुआ या नहीं आदि कोई संकेत इस उपागम से नहीं मिलते।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि यह आंशिक दृष्टिकोण ही रहा तथा किसी सार्वभौमिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी असफल रहा। परन्तु इसके दो परिणाम फिर भी उपयोगी रहे— एक, व्यक्तियों के वस्तुनिष्ठ व्यवहार के अध्ययन से राज्यों के निर्णयों का सही आंकलन होने से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भागीदारी के स्वरूप का कुछ ज्ञान हुआ। दूसरे, विदेश नीति सम्बन्धी विभिन्न निर्णयों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सका। अतः इस सीमा तक इस उपागम की उपयोगिता बनी हुई है।

2.6 खेल उपागम

यह उपागम अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु आंशिक उपागमों में से एक है। मूलतः इसका विकास गणितज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों ने किया। सबसे प्रथम इसे पहचान व इसको विकसित किया मार्टिन शुाबिक (गेम्ज थ्योरी एण्ड रिलेटिड अप्रोचिज टू सोशल बिहेवियर (1954), ऑस्कर मॉर्गन्स्टर्न (थ्योरी ऑफ गेम एण्ड ईकोनोमिक बिहेवियर (1964), मोरटन डी.डेविस (गेम थ्योरी: ए नॉन टेक्नीकल इंट्रोडक्सन (1970) लेकिन इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक प्रतिमान के रूप में लागू किया मार्टन कॉप्लान, काल डॉयस, आर्थर ली, वर्न्स, रिचर्ड आदि ने।

खेल दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक विश्लेषण प्रणाली तथा विभिन्न विकल्पों में से एक विकल्प चुनने का तरीका है। यह विचारों का ऐसा समूह है जो तर्क संगत निर्णयों एवं प्रतियोगिता व संघर्ष की परिस्थितियों में, जब प्रत्येक प्रतिभागी अधिकतम लाभ के लिए प्रयत्नशील होता है, श्रेष्ठतम रणनीति के चयन से सम्बद्ध है। यह उपागम कोशिश करता है कि किन परिस्थितियों में कौन सा निर्णय या प्रक्रिया या विकल्प तर्कसंगत है। अतः इस उपागम द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णयकर्ताओं को अपने विकल्पों की उपादेयता जांचने का सर्वोत्तम अवसर प्रदान करता है। अतः यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तर्कसंगत व्यवहार का प्रतिमान है जिससे प्रत्येक राज्य अपनी विदेश नीति संचालन के क्रम में ऐसा निर्णय ले जिससे उसके हितों में वृद्धि के अधिकतम अवसर प्राप्त हो सके।

यह उपागम रणनीति का खेल है, संयोग का नहीं। इसमें खेल के अपने नियम, खिलाड़ी, क्रियाएं, रणनीति, क्षतिपूर्ति आदि होते हैं। खेल प्रतिस्पर्धापूर्ण एवं सहकारितापूर्ण दोनों ही प्रकार का हो सकता है इस खेल के खिलाड़ी निर्णय लेने वाले होते हैं जो दो या दो से अधिक भी हो सकते हैं। खेल निश्चित नियम होते हैं जिन खिलाड़ियों का नियंत्रण नहीं होता। प्रत्येक खिलाड़ी का प्रयास तो अपने हितों के संदर्भ में अधिकतम लाभ कमाने का होता है।

सामान्यतया इस उपागम के समर्थक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के संदर्भ में मुख्य तौर पर निम्न प्रश्नों के उत्तर खोजने के प्रयास करते हैं— खिलाड़ी के पास कौन-कौन सी रणनीतियां हैं? अपने विरोधी के पास कौन-कौन सी रणनीतियां हैं? विरोधी व अपनी रणनीतियों की तुलना करता है, विभिन्न परिणामों के मूल्यों का आकलन करते है, तथा अपने विरोधी द्वारा इन मूल्यों का किस प्रकार आंकलन किया जा रहा है आदि

- I. **शून्य योग खेल**— इसमें मुख्यतः दो खिलाड़ी होते हैं जिसमें किसी भी एक पक्ष का लाभ किसी दूसरे की कीमत पर होता है। अतः इस खेल में संघर्ष निर्णायक होता है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत द्विपक्षीय संबंधों के अध्ययन हेतु अति महत्त्वपूर्ण है।
- II. **स्थिर योग खेल**— इस खेल में किसी भी पक्ष का लाभ दूसरे की कीमत पर नहीं होता। इसमें खिलाड़ियों के माध्यम से पारस्परिक सहयोग अधिक होता है तथा इसी सहयोग के साथ समान लाभ प्राप्त करने की कोशिश की जाती है।

III. **गैर-शून्य योग खेल**— यह खेल उपरोक्त दोनों के बीच की स्थिति का द्योतक है। इसमें खेल के विभिन्न पक्षों के बीच प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग दोनों ही उपलब्ध होते हैं। इसमें दोनों ही पक्ष लाभाविन्त भी हो सकते हैं तथा दोनों की हानियां भी हो सकती है।

विभिन्न आलोचकों ने इस सिद्धान्त की भी निम्न आधारों पर आलोचनाएं की हैं—

- I. सर्वप्रथम आलोचकों का कहना है कि यह सत्य है कि इस उपागम के माध्यम से विदेश नीति के तर्कपूर्ण निर्णयों का पता लगा सकते हैं। इसके साथ-साथ यह भी जान सकते हैं कि विदेश नीति का अमुक फैसला तर्कसंगत है या नहीं। परन्तु समस्या वहां आती है जहां व्यवहार अविवेकपूर्ण होता है। यह उपागम इस बात को बताने में सक्षम नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में खिलाड़ी अविवेकपूर्ण अथवा गैर-तर्कसंगत व्यवहार क्यों करते हैं।
- II. इस उपागम के माध्यम से लाभ-हानि का आंकलन करने की कोशिश की जाती है। परन्तु यह दृष्टिकोण इस संदर्भ में यह मानकर चलता है कि प्रत्येक खिलाड़ियों के उद्देश्यों, मानकों, नेतृत्व की विशेषताओं आदि समान होती हैं। लेकिन वास्तविक स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत होती हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में ज्यादातर प्रतिभागी के हित एक दूसरे से प्रतिस्पर्धात्मक होते हैं, सहयोगात्मक बहुत कम होते हैं।
- III. यह उपागम यह मानकर चलता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्णयकर्ता और उसके निर्णय पूर्णतया विवेकपूर्ण एवं नैतिक होते हैं। इसके साथ-साथ यह भी माना जाता है कि इन निर्णयों के संबंध में उनके पास पूर्ण सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। लेकिन वास्तविकता ठीक इसके विपरीत होती हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत सारी सूचनाएं गोपनीय होती हैं। तथा ज्यादातर निर्णय विवेकपूर्ण या नैतिक नहीं होती है, बल्कि स्वार्थी राष्ट्रहित से प्रेरित होने के कारण सिर्फ अपने राष्ट्र के भले हेतु ही लिए जाते हैं।
- IV. मुख्य रूप से यह उपागम दो राष्ट्रों के शून्य-योग खेल तक ही अधिक कारगर हो सकता है। क्योंकि दो राष्ट्रों के सीधे संबंधों के संदर्भ में लाभ हानि का स्पष्ट आंकलन सम्भव हो सकता है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियों के संदर्भ में यह दृष्टिकोण कारगर नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति बहुत कम ही उपलब्ध होती है। इसीलिए इसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। इसीलिए कुछ आलोचकों का मानना है कि यह उपागम युद्ध, युद्ध निवारण, आतंकवाद, परमाणु खतरों, निरोधक व्यवस्था, व्यापक प्रतिशोध जैसी कई परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन करने हेतु सक्षम नहीं है।
- V. यह उपागम अमूर्त रूप में ही है, बहुत कम परिस्थितियों में इसके स्वरूप को उजागर किया जा सकता है। इसी प्रकार इसके अन्य खेल के नियमों की बात है। यह भी अस्पष्ट है तथा स्पष्ट रूप से सभी खिलाड़ी इसे मानते हो ऐसा आवश्यक नहीं। अतः यह दृष्टिकोण व्यवहारिकता से भी काफी परे है।

उपरोक्त कमियों के बावजूद भी कुछ सीमा तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में द्वि पक्षीय संबंधों के अध्ययन करने में यह अवश्य सक्षम है, लेकिन यह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में बिल्कुल उपयुक्त नहीं है।

2.7 संचार उपागम

संचार उपागम के बारे में सर्वप्रथम गणितज्ञ नार्बर्ट वीनर ने अपने संचार, साइबरनेटिक्स, फीड बैक आदि अवधारणाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। परन्तु इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कार्ल डब्ल्यू डॉयस ने अपनी पुस्तक—नर्वज ऑफ गवर्नमेंट— के माध्यम से प्रस्तुत किया। इस उपागम के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के लक्ष्यों के निर्णय प्रक्रिया व समायोजन के माध्यम से जानना है। यह सरकारी तंत्र की कार्यवाही को सूचना प्रवाह की तरह मानती है। अतः विभिन्न ढांचों के माध्यम से किस प्रकार सूचना प्रवाह की प्रक्रिया होती है इसे जानना जरूरी है। इस उपागम की निर्णय के परिणामों की बजाय निर्णयों की प्रक्रिया में अधिक रुचि है। अतः यह साइबरनेटिक्स के

अनुरूप ही है क्योंकि उसमें भी संचालन व समायोजन पर अधिक बल दिया जाता है न कि निर्णयों के परिणामों पर।

संचार उपागम का मुख्य बल परिवर्तन पर है। इसका मानना है कि यह परिवर्तन शक्ति की बजाय संचार पर आधारित होगा तो अधिक प्रभावी व कारगर रहेगा। डॉयस का मानना है कि प्रत्येक प्रणाली में सूचना को ग्रहण करने वाले कारक होते हैं। कई सूचना ग्रहण करने वाले ढांचे मात्र सूचना ग्रहण ही नहीं करते अपितु उसे चुनते हैं, छांटते हैं, आंकड़ाबद्ध करते हैं आदि। निर्णय लेने वाली प्रक्रिया में उन सूचनाओं को याद रखने, मूल्य की जटिलता आदि के माध्यम से वास्तविक निर्णय लेने तक संभाल कर रखा जाता है।

सूचना ग्रहण करके के अतिरिक्त, डॉयस के अनुसार, राजनैतिक तंत्र में चैनलों के भार व उनकी क्षमताओं का वर्णन भी होता है। राजनैतिक प्रणाली में सूचनाओं का भार प्रणाली के पास उपलब्ध समय की दृष्टि से तय होता है। उस प्रकार भार की क्षमता चैनलों के उपलब्धता पर आधारित है। इन्हीं आधारों पर यदि वो राजनैतिक व्यवस्था आने वाली सभी सूचनाओं को सुनिश्चित रूप से संभाल पाती है तो प्रणाली उत्तरदायी है। अगर वह ऐसा नहीं कर पाई तो प्रणाली अनुत्तरदायी है।

कार्ल डॉयस का यह भी मानना है कि सूचनाओं की मापतोल व गिनती सम्भव है। भेजी गई सूचना किस मात्रा में सही या विकृत रूप से प्राप्त की जाती है उसका अनुमान लगाने के लिए सम्प्रेषण सारणियों की उपलब्धता, क्षमता या मर्यादा का परिमाणात्मक रूप से अध्ययन किया जा सकता है। डॉयस ने समूहों, समाजों, राष्ट्र व अंतर्राष्ट्रीय समाजों, सभी संगठनों आदि की संश्लिष्टता मापने हेतु सूचना प्रवाहों के अध्ययन की पद्धति का प्रयोग किया है।

इस उपागम में 'नाकारात्मक फीडबैक' एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है। इसका अभिप्राय है कि जिसके माध्यम से निर्णयों व उनसे क्रियान्वयन से उत्पन्न होने वाली परिणामों की सूचना व्यवस्था में पुनः इस प्रकार स्थापित कर सकें कि वह व्यवस्था के व्यवहार को स्वतः ऐसी दिशा प्रदान करें कि लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सके। अतः इस दृष्टिकोण में नकारात्मक फीडबैक लक्ष्यों की प्राप्ति में अति सहायक सिद्ध होती है। एक कुशल व्यवस्था वह है जो सूचना को अधिकृत रूप से सही समय पर ले सके तथा उसके आधार पर अपनी स्थिति व व्यवहार में व्यवहार में समय पर यथोचित बदलाव कर सके। इस प्रकार डॉयस राजनीतिक प्रणाली को जीवित प्राणी को जीवित प्राणी की शारीरिक व्यवस्था के समान मानता है।

डॉयस ने अपने इस संचार उपागम में ढांचागत सुधार हेतु चार मात्रात्मक अवधारणाओं का समावेश किया है। ये चार अवधारणाएँ हैं— (i) भार (लोड), (ii) देरी (लग), (iii) लाभ (गेन) तथा (iv) अग्रता (लीड)। भार से उसका अभिप्राय है व्यवस्था द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संचार की गति व उसकी मात्रा को लक्ष्य के साथ समन्वित करना। देरी का अर्थ है सूचना के सही व उचित समय पर पहुंचने पर भी व्यवस्था द्वारा निर्णयों का उसके फलस्वरूप उत्पन्न परिणामों में देरी करना। लाभ से उसका अभिप्राय है कि प्राप्त होने वाले सूचना के प्रतिउत्तर में शीघ्रता व प्रभावी होना। अग्रता से अभिप्राय सम्भावित परिणामों का पूर्व आकलन करके अपने निर्धारित लक्ष्यों को समय पर प्राप्त करना। अतः डॉयस का मानना है कि इन चार कारणों से संचार उपागम का मात्रात्मक ढंग से अध्ययन सम्भव है।

अतः संचार दृष्टिकोण में डॉयस के अध्ययन की मूल अध्याय सूचना प्रवाह का माना है। क्योंकि इसी के माध्यम से संचालन की प्रक्रिया को गति के साथ सम्बंध किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी निर्णयों हेतु सूचना प्रवाह अति आवश्यक बन पड़ा है। जिन राष्ट्रों के पास सुचारू, सुस्पष्ट एवं वस्तुनिष्ठ सूचना तंत्रों का जाल बिछा है वे अपने विदेश नीति के निर्धारण एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने में ज्यादा सफल होते हैं। इसी के

परिणामस्वरूप वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी अधिक प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

संचार उपागम की भी कई आधारों को लेकर आलोचनाएँ की गई हैं जो इस प्रकार से हैं—

- I. इस उपागम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह निर्णयों के परिणामों की बजाय निर्णय लेने की प्रक्रिया के बारे में ज्यादा बल देता है। सूचना प्रवाह के स्वरूप पर तो इसका मुख्य ध्यान है, लेकिन उन विभिन्न ढांचों को नकारती है जिन्होंने सूचना को यह स्वरूप प्रदान किया है इस प्रकार से जो बहुत महत्वपूर्ण पहलू है उसे नकार कर यह दृष्टिकोण गौण पहलू को जरूरत से अधिक महत्व प्रदान करता है।
- II. इस उपागम का विवरण इतना जटिल एवं यांत्रिकी बन गया है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य विद्यार्थियों के समझ से परे है। इसके आधार पर मानव प्रकृति को यान्त्रिकी से सम्बद्ध कर कई प्रकार की जटिलताएँ पैदा कर दी हैं।
- III. सामान्य रूप से प्रतिमानों की स्थापना विषय के सरलीकरण हेतु की जाती है। परन्तु डॉयस का यह मॉडल अपने आप में इतना जटिल है कि इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रारूप को समझना और कठिन हो गया है। इस प्रतिमान के माध्यम अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलाव व विकास के लिए जरूरी ढांचों एवं संचार प्रवाह को प्रदर्शित करना सम्भव नहीं हो सका।
- IV. इस उपागम के अंतर्गत जिस प्रकार के उच्च स्तर की भूमिकाओं की विशेषता की आवश्यकता होती है, वह वास्तविक जिन्दगी में शायद ही आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त, इनको बनाने वाले सूचना प्रवाह चैनल भी कभी-कभी इतने औपचारिक नहीं होते जितने इस उपागम में दर्शाये गए हैं। राजनैतिक प्रक्रिया की कार्यशैली भी इतनी सुस्पष्ट नहीं होती है। इसके अलावा, कई बार तो निर्णय लेने वालों की दृष्टि में लक्ष्य भी इतने सुनिश्चित नहीं होते और निर्णयों की दिशा तो हमेशा ही अनिश्चित होती है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस दृष्टिकोण को राजनैतिक शोध हेतु शायद ही प्रयोग में लाया जाये।
- V. **अन्ततः—** इस उपागम की यह भी आलोचना है कि यद्यपि डॉयस का कार्य गहन व व्यापक था, परन्तु इस दृष्टिकोण के सभी निष्कर्ष सलाहमात्र थे। यह उपागम सरकारों की गतिविधियों के सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के प्रश्न तो अवश्य उठाता है, लेकिन उन प्रश्नों के उत्तर देने में यह बहुत कम मदद करता है।

उपरोक्त कमियों के उपरान्त भी एक सन्दर्भ में इसका महत्व है। विदेश नीति निर्माण में संचार तंत्रों का विशेष महत्व है तथा वर्तमान सूचना तकनीक के विकास के युग में इसका महत्व कम होने की बजाय बढ़ने की सम्भावनाएँ हैं।

2.8 सारांश

उपरोक्त अध्याय में द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्ध विभिन्न उपागमों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन सभी उपागमों का वस्तुनिष्ठ एवं आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इन उपागमों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का प्रयास भी किया गया है। इन सभी उपागमों की विशेषताओं, कमियों एवं उपयोगिताओं का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु एक निष्कर्ष अति स्पष्ट रूप से निकलता है कि उपरोक्त सभी उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किसी एक पहलू पर अत्याधिक बल देते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप ये सभी आंशिक सिद्धान्त की श्रेणी में ही आते हैं। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सुस्पष्ट रूप से समझने वाले एक सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत सिद्धान्त का अभाव है।

2.9 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आदर्शवादी दृष्टिकोण का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इस उपागम का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. मारगेन्थाऊ के यथार्थवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
4. मार्टिन काप्लान के व्यवस्थापरक सिद्धान्त का विस्तृत मूल्यांकन कीजिए।
5. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णयपरक उपागम का विस्तार से वर्णन करें।
6. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के खेल/क्रीडा दृष्टिकोण का वर्णन कीजिए।
7. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संचार के सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन करें।

2.10 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—3

राष्ट्रीय शक्ति : तत्त्व एवं सीमाएं, राष्ट्रीय हित, विचारधारा,
विदेश नीति एवं राजनय

अध्याय का ढांचा

3.1 प्रस्तावना

3.1.1 अध्याय के उद्देश्य

3.2 राष्ट्रीय शक्ति

3.2.1 परिभाषा

3.2.2 प्रमुख तत्त्व

3.2.2.1 भूगोल

3.2.2.2 प्राकृतिक संसाधन

3.2.2.3 जनसंख्या

3.2.2.4 आर्थिक एवं तकनीकी विकास

3.2.2.5 सैन्य क्षमता

3.2.2.6 सरकारी ढांचा

3.2.2.7 विचारधारा

3.2.2.8 मनोबल

3.2.2.9 राजनय

3.1.3 राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन

3.1.4 राष्ट्रीय शक्ति का प्रबन्धन

3.1.4.1 शक्ति सन्तुलन

3.1.4.2 सामुहिक सुरक्षा

3.1.5 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं

3.1.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय कानून

3.1.5.2 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता

3.1.5.3 विश्व जनमत

3.6 सारांश

3.7 प्रश्नावली

3.8 पाठन सामग्री

3.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कई बार तो कई लेखक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति हेतु संघर्ष की संज्ञा भी प्रदान करते हैं। परन्तु शक्ति एक बहुत ही जटिल एवं बहु आयामी प्रक्रिया है, अतः इसे किसी एक कारक के समकक्ष समझना अनुचित होगा। इसे पूर्ण रूप से समझने हेतु इसके निर्धारक तत्त्व एवं उपयोगिताओं को समझना अति आवश्यक है। इसके साथ-साथ यह भी समझना अनिवार्य होगा कि इसके उत्प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से हैं तथा इनका किन विभिन्न तरीकों से प्रयोग किया जाता है। इन सभी को समझने हेतु शक्ति के प्रबन्धन एवं सीमाओं को समझना भी अति अनिवार्य है। शक्ति के प्रयोग की प्रमुख रणनीति में राष्ट्रीय हित एवं विचारधारा की भूमिका को भी नहीं नकारा जा सकता। अतः शक्ति का इनसे सम्बन्ध जानना भी अति अनिवार्य है। अतः यह अध्याय इन सभी मूल प्रश्नों के वर्णन से सम्बन्ध है।

3.1.1 अध्याय का उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की अवधारणा एवं इसे जुड़े सभी पहलुओं को अध्ययन कराना है। इसके साथ शक्ति प्रबन्धन के दो प्रमुख तरीकों सामुहिक सुरक्षा एवं शक्ति संतुलन का भी आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करना है। इसके अतिरिक्त, शक्ति के प्रयोग हेतु सीमाओं का आंकलन भी प्रस्तुत किया गया है। शक्ति को रणनीति के रूप में प्रयोग के बिन्दुओं राष्ट्र हित एवं विचारधारा के बारे में भी विस्तृत जानकारी दी गई है। अतः इस अध्ययन में शक्ति के सभी पहलुओं के विस्तृत वर्णन के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सुचारु रूप से समझने का उद्देश्य रखा गया है।

3.2 राष्ट्रीय शक्ति

3.2.1 परिभाषा

साधारण शब्दों में व्यक्ति के संदर्भ में शक्ति से अभिप्राय है जब एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को नियन्त्रित करने और उनसे मनचाहा व्यवहार कराने और उन्हें अनचाहा व्यवहार करने से रोकने की सामर्थ्य या योग्यता से है। जब यही बात सभी व्यक्ति मिलकर राष्ट्र के बारे में अभिव्यक्त करके दूसरे राज्य/राज्यों के संदर्भ में करते हैं तो वह राष्ट्रीय शक्ति होती है।

विभिन्न विद्वानों ने इसकी निम्नलिखित परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं—

- I. **ऑरगैस्की**— राष्ट्रीय शक्ति दूसरे राष्ट्रों के आचरण को अपने लक्ष्यों के अनुसार प्रभावित करने की क्षमता है। जब तक कोई राष्ट्र यह नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, चाहे वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, परन्तु उसे शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता है।
- II. **पेडलफोड एवं लिंकन**— यह शब्द राष्ट्र की भौतिक व सैनिक शक्ति तथा सामर्थ्य का सूचक है। राष्ट्रीय शक्ति सामर्थ्य का वह योग है जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु उपयोग में लाता है।
- III. **जार्ज रचवार्जन बर्जर**— शक्ति अपनी इच्छा को दूसरों पर लादने की क्षमता है जिसका आधार न मानने पर प्रभावशाली विरोध सहना पड़ सकता है।
- IV. **हेन्स जे. मारगेन्थाऊ**— शक्ति, उसे कार्यान्वित करने वालों व उनके बीच जिन पर कार्यान्वित हो रही है, एक मनोवैज्ञानिक संबंध है। यह प्रथम द्वारा द्वितीय के कुछ कार्यों को मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर नियन्त्रित करने की क्षमता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को प्रभावित करने की क्षमता है। परन्तु इस क्षमता के पीछे दण्डात्मक शक्ति भी होती है उसी के डर से शक्ति प्रभावी हो सकती। बिना दण्डात्मक या प्रतिबंध

लगाने की क्षमता के एक राष्ट्र दूसरे पर इसे लागू नहीं कर सकता।

परन्तु शक्ति के संदर्भ में कुछ बातों को जानना अत्यंत आवश्यक है। प्रथम, शक्ति की कल्पना रिक्तता के वातावरण में नहीं की जा सकती, अपितु इसके प्रयोग हेतु कम से कम दो या दो से अधिक राष्ट्र/राष्ट्रों के समूह का होना जरूरी है। द्वितीय शक्ति के संबंध हमेशा दो विरोधियों के मध्य ही नहीं होते, बल्कि कुछ परिस्थितियों में मित्र राष्ट्रों के बीच भी पाये जा सकते हैं। तृतीय, शक्ति का प्रयोग विरोधियों व मित्रों के अलावा तटस्थ राष्ट्रों के बीच भी हो सकते हैं। चतुर्थ, शक्ति को वस्तु या पदार्थ नहीं, बल्कि राष्ट्रों के मध्य संबंधों की स्थिति है। अन्ततः शक्ति के विभिन्न रूप हो सकते हैं।

3.2.2 प्रमुख तत्व

शक्ति के विभिन्न तत्व होते हैं। इन्हीं तत्वों को कई बार शक्ति के निर्धारक तत्व भी कहा जाता है, परन्तु ऐसा कहना अनुचित है। क्योंकि शक्ति के तत्व अपने आप में शक्ति नहीं है, अपितु उनका होना शक्ति प्राप्त करने में सहायक होता है। अतः इन तत्वों के संबंध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—(i) सभी तत्व एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं तथा परस्पर निर्भरता रखते हैं। (ii) इन तत्वों को वस्तुनिष्ठ रूप में मापना कठिन होता है, उनके संबंध में अनुमान ही लगाया जा सकता है। (iii) इनका सही मात्रा में आंकलन इसलिए सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि ढांचागत एवं तकनीकी परिवर्तनों के कारण इनमें भी बदलाव सम्भव है। (iv) राष्ट्रीय शक्ति किसी एक तत्व से नहीं बल्कि विभिन्न तत्वों के किसी विशेष परिस्थिति में योग पर आधारित होती है। (v) इन्हें अपनी प्रवृत्ति के स्वरूप के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है।

विभिन्न विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अलग-अलग आधारों पर वर्गीकृत किया है। मारगेन्थाऊ ने इसे दो भागों स्थाई एवं परिवर्तनशील में बांटा है। उनके अनुसार जहां भूगोल व प्राकृतिक संसाधन स्थाई है, वहीं सैन्य तैयारी, आबादी, राष्ट्रीय चरित्र, राजनय व सरकार परिवर्तनशील है। औरगेस्की इन्हें प्राकृतिक (भूगोल, संसाधन, आबादी आदि) एवं सामाजिक (आर्थिक विकास, राजनैतिक ढांचा, राष्ट्रीय चरित्र आदि) भागों में बांटते हैं। ई.एच.कार. इन्हें सैन्य शक्ति, आर्थिक शक्ति एवं विचारों पर शक्ति के रूप में विभाजित करते हैं। महेन्द्र कुमार इन्हें प्राकृतिक (भूगोल, संसाधन, आबादी), सामाजिक (आर्थिक विकास, राजनैतिक ढांचा, राष्ट्रीय मनोबल) तथा विचारात्मक (आदर्श, बुद्धिमानी एवं नेतृत्व की बुद्धिमता) रूप में वर्णन करते हैं। पॉमर एवं पर्किंस इन्हें मूतरूप (मनोबल एवं विचारधारा) के रूपों में वर्णित करते हैं। इन विभिन्न वर्गीकरणों के आधार पर कुल मिलाकर एक जैसे ही तत्वों को सम्मिलित किया गया है। इन तत्वों के गहन विश्लेषण के बाद ही इनका राष्ट्रीय शक्ति में योगदान बताना सम्भव हो सकेगा। अतः इन तत्वों के गहन विश्लेषण की अति आवश्यकता है जो इस प्रकार से है।

3.2.2.1 भूगोल

भूगोल भी देश की राष्ट्रीय शक्ति में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। कई विद्वान तो भूगोल को ही राष्ट्रीय शक्ति के रूप में देखते हैं। भूगोल के राष्ट्रीय शक्ति से सम्बन्धित चार बातें अतिमहत्वपूर्ण हैं। (क) क्षेत्रफल/आकार, (ख) स्थलाकृति, (ग) स्थिति तथा (घ) (जलवायु)।

(क) क्षेत्रफल/आकार— किसी भी देश का बड़ा आकार उसको शक्तिशाली बनाने के महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई भी महाद्वीपीय आकार का देश ही बड़ी शक्ति का रूप धारण कर सकता है न कि कोई छोटे से क्षेत्रफल का देश। लेकिन यदि यह बड़ा आकार रेगिस्तान, घने जंगल, बर्फीला प्रांत है तब यह राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने में सक्षम नहीं होता। परन्तु यदि यह क्षेत्र रहने के योग्य हैं तभी इस आकार का लाभ हो सकता है। बड़ा आकार सैन्य व गैर सैन्य दोनों स्थितियों में राष्ट्रीय शक्ति का विस्तार करता है। सैन्य रूप से बड़े आकार के कई सैनिक लाभ हैं। युद्ध के समय देश की सेना को पीछे भी हटना पड़े तो यह सम्भव

है। इसी प्रकार इससे सामरिक गहनता भी प्राप्त होती है। अतः लम्बे युद्धों को चलाने व उनमें अपनी सुरक्षा हेतु बड़ा आकार सहायक सिद्ध होता है।

गैर सैन्य रूप से भी बड़ा आकार कई सन्दर्भों में राष्ट्र की शक्ति बढ़ाता है। इसके अंतर्गत एक बड़ी जनसंख्या के भरण पोषण की व्यवस्था उचित प्रकार से की जा सकती है। बड़े क्षेत्रफल वाले राष्ट्रों में प्राकृतिक खनिजों एवं संसाधनों की उपलब्धिता की सम्भावनाएं अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त इसमें उद्योग को राज्य के विभिन्न भागों में होने से युद्ध के समय राष्ट्र सम्पूर्ण विनाश से बच सकता है। राष्ट्र का युद्ध में नुकसान होने पर भी कुछ आबादी व उद्योग धन्धे बाद में भी सुरक्षित बच जाते हैं। अतः एक बड़ा राज्य अवश्य ही शक्तिशाली बनने की सम्भावनाएं रखता है।

(ख) **स्थलाकृति**— किसी भी देश की स्थलाकृति भी उसे शक्ति बनाने में सहायक/रुकावट बन सकती है। किसी देश की भूमि पहाड़ी व दूरगम्य है या पैदावार वाला भूमिगत मैदान या बर्फ से ढका प्रान्त है यह उसे लाभ/हानि की स्थिति में रख सकता है। द्वितीय, स्थलाकृति के आधार पर ही सीमाओं का आकलन की स्थिति निर्भर करती है। क्या इस प्रदेश की प्रकृतिक सीमाएँ हैं या अस्पष्ट सीमाएँ हैं इस प्रकार उसकी सुरक्षा सम्बन्धी दबाव निर्भर करता है। तृतीय, क्या एक राष्ट्र समुद्र से सीधे लगा हुआ है या वह एक भू-बद्ध राष्ट्र है जो अपने समुद्री मार्ग हेतु किसी अन्य पर निर्भर करता है। इस बात पर भी उसके शक्तिशाली बनने की क्षमता पर सीधा असर पड़ता है। अन्ततः उसका बाह्य विश्व से किस प्रकार के रिश्ते हैं यह भी निर्भर करता है उसकी स्थलाकृति पर। क्योंकि उससे पड़ोस की ओर जाने के मार्ग सरल है, व्यापार सम्भव है या नहीं, आदि इस मुद्दे को काफी हद तक प्रभावित करते हैं।

(ग) **स्थिति**— राष्ट्र शक्ति के सन्दर्भ में उसकी स्थिति भी महत्वपूर्ण होती है। प्रथम, किसी भी राष्ट्र की भूमध्य रेखा से दूरी व नजदीकी के कारण वहां के जलवायु, जनसंख्या, मौसम आदि पर सीधा असर पड़ता है। यह सुखद एवं कष्टदायक दोनों की स्थिति पैदा कर सकता है। द्वितीय, किसी राष्ट्र की स्थिति उसकी विदेश नीति को भी निर्धारित करती है। अन्ततः, किसी राष्ट्र की स्थिति ही उसके सामरिक महत्व को कम या ज्यादा कर सकती है। अतः किसी भी राष्ट्र की स्थिति यदि उचित होगी तो उसके बड़ी शक्ति बनने की क्षमताएं बनी रहती है।

(घ) **जलवायु**— जलवायु किसी भी राष्ट्र शक्ति बनने में हम भूमिका निभाती है। किसी राष्ट्र के उत्पादन, जनसंख्या, मानव संसाधन आदि का विकास सम्भव है। यदि किसी राष्ट्र की जलवायु वहां की आबादी के रहने, उद्योग करने, फलने-फूलने के लायक नहीं है तो वह राज्य एक बड़ी शक्ति नहीं बन सकता। बड़े-बड़े रेगिस्तान, ठंडे पड़े क्षेत्र, तापमान की अधिकता व अपेक्षाकृत नमी वाले क्षेत्रों में, रेगिस्तान, ठंडे पड़े क्षेत्र में राष्ट्रीय मानव संसाधन, वनस्पति, उद्योग आदि का विकास सम्भव नहीं है। इसके लिए उपयुक्त जलवायु का होना अति आवश्यक है। वर्तमान सन्दर्भ में यह तर्क भी दिया जाता है कि विज्ञान के विकास ने प्रकृति की इन चुनौतियों पर कुछ हद तक विजय प्राप्त कर ली है। परन्तु यह तर्क एक दो दस व्यक्तियों या कुछ चन्द्र क्षेत्रों के विकास में शायद सहायक हो सके लेकिन सम्पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में सफल नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक स्थितियों का मानव व विज्ञान सीमित उपाय ढूंढ सकता है लेकिन उसकी विपरीत दिशा में ज्यादा देर तक नहीं टिक सकता।

अतः किसी भी देश का आकार, स्थलाकृति, स्थिति व जलवायु सम्बन्धित भौगोलिक परिस्थितियां सहायक हो तभी उस राष्ट्र के शक्तिशाली बनने की सम्भावनाएं बनी रहती है।

3.2.2.2 प्राकृतिक संसाधन

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में दिए अन्य सहायक तत्व है उस देश में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन। इन संसाधनों से

अभिप्राय है मुख्यतः खनिज, खाद्यान्न, भूमि और भूमि से प्राप्त अन्य पदार्थ। जिस देश के पास जितना अधिक खनिज पदार्थ जैसे तेल, कोयला, लोहा, ताम्बा, पीतल, माईका, यूरेनियम आदि जितनी धातुएँ प्रचुर मात्रा में होंगी वह उतना ही शक्तिशाली होगा। उदाहरण के रूप में 1973 से पहले अरब देश अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण नहीं थे परन्तु तेल की उपलब्धता ने महत्वपूर्ण बना दिया। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि केवल खनिजों की उपलब्धता के कारण कोई स्वयंमेव शक्तिशाली हो जाता है, अपितु उन खनिजों के उपयोग हेतु वहां पर वैज्ञानिक क्षमता व औद्योगीकरण भी होना अनिवार्य है। इसीलिए शायद अरब राष्ट्र तेल के मालिक होने के कारण अमीर है परन्तु विश्वशक्ति नहीं है। परन्तु आज किसी भी सैन्य बल हेतु कच्चे माल का प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना आवश्यक है।

विज्ञान के बढ़ते विकास के कारण आज कई खनिज पदार्थ सामरिक महत्व भी प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरणस्वरूप, यूरेनियम, थोरियम, पेट्रोलियम आदि पर नियंत्रण रखना अब सामरिक शक्ति हेतु अति आवश्यक है। परन्तु यहां भी यह सत्य है जब तक किसी राष्ट्र के पास परमाणु शस्त्र, प्रक्षेपास्त्र या अन्तरिक्ष उपग्रहों/यानों की क्षमता नहीं है वह इन परमाणु खनिजों का उचित उपयोग नहीं कर सकता।

सैन्य के साथ-साथ गैर सैन्य आवश्यकताओं हेतु वनस्पति एवं खाद्यान्नों के उत्पादन में भी राष्ट्र का आत्मनिर्भर होना आवश्यक है। अपने इन घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह दूसरे पर निर्भर रहेगा तो बड़ी शक्ति नहीं बन सकता। उदाहरणस्वरूप, 1950 व 1960 के दशकों में भारत की अमेरिकी गेहूं पर निर्भरता ने उसकी विदेश नीति को भी प्रभावित किया है। 1970 के दशक में आई हरित क्रांति के बाद स्थिति में काफी बदलाव आया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, उनका विकास एवं उपयोग के आधार पर ही कोई राष्ट्र महत्वपूर्ण शक्ति बन सकता है।

3.2.2.3 जनसंख्या

यद्यपि जनसंख्या के अनुपात में किसी राष्ट्र का आकलन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होता तो चीन व भारत को विश्व की पहली व दूसरी बड़ी शक्ति होना चाहिए था। परन्तु यह भी सत्य है कि जनसंख्या के अभाव में कोई राष्ट्र महान शक्ति नहीं बन सकता। उदाहरण स्वरूप, कनाडा के पास बड़ा क्षेत्रफल, खनिज पदार्थ आदि होने के बाद भी जनसंख्या की कमी के कारण एक बड़ी ताकत नहीं है। इसीलिए जनसंख्या कुछ राष्ट्रों के लिए शक्तिशाली होने के लिए आवश्यक है तो कुछ के लिए इसके विपरीत है। जैसे कनाडा, रूस, आस्ट्रेलिया के लिए जरूरी तत्व है, तो भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश आदि के लिए यह एक अभिशाप है। वास्तव में प्रत्येक देश के क्षेत्रफल, संसाधन, औद्योगिक विकास आदि के संदर्भ में वहां की जनसंख्या की अधिकतम मात्रा तय होती है।

इसके अतिरिक्त, जनसंख्या अपने आप में शक्ति नहीं है, अपितु जनसंख्या की गुणात्मक स्थिति क्या है यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। एक राष्ट्र की भूखी, बीमार, अशिक्षित आबादी उसके लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकती। बल्कि उस राष्ट्र की निपुणता उसकी जनसंख्या की अच्छी सेहत, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशिक्षण आदि पर निर्भरता करना है। शीतयुद्धोत्तर युग में किसी राष्ट्र के विकास के एक मानक के रूप में उसके मानव संसाधन के विकास को माना जाता है। इस युग में जहां भूण्डलीकरण का दौर है वहां सेवाओं के क्षेत्र का बहुत विकास हो रहा है। अतः आज मानव संसाधन के विदेशों में निर्यात की सम्भावनाएं भी बढ़ रही हैं। अतः हम कह सकते हैं कि गुणात्मक रूप से उच्च दर्जे की जनसंख्या जहां राष्ट्र के विकास का साधन है, वही कमजोर, बीमार व अशिक्षित जनसंख्या उसका मार्ग अवरुद्ध करती है। इसीलिए जनसंख्या एक महत्वपूर्ण तत्व अवश्य है परन्तु किस प्रकार की जनसंख्या यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

3.2.2.4 आर्थिक एवं तकनीकी विकास

किसी राष्ट्र के संसाधनों का उचित प्रयोग उस राष्ट्र के आर्थिक व तकनीकी विकास पर निर्भर करता है। यदि

आर्थिक विकास सुचारु होगा तो वह वहां की जनसंख्या के जीवन स्तर को सुधारने के साथ-साथ राष्ट्र की सैन्य व गैर सैन्य क्षमताओं के विकास के साथ-साथ विदेश नीति को भी सशक्तता प्रदान करेगा।

आर्थिक विकास का अर्थ है किसी राष्ट्र के आर्थिक संगठन की सुचारु व्यवस्था जिसके आधार पर उस राष्ट्र का उत्पादन बढ़ा सके। इसके अतिरिक्त, औद्योगीकरण का विकास भी अर्थव्यवस्था को अधिक सुदृढ़ता प्रदान करता है। इससे देश पूंजी वृद्धि का उपयोग राष्ट्र के आन्तरिक के साथ-साथ विदेश नीति के उद्देश्यों हेतु भी करेगा। पूंजी सम्पन्न देश गरीब देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है। यह आर्थिक सहायता अन्य राष्ट्रों में उसका समर्थन बढ़ायेगी। इस समर्थन के आधार पर उसकी अंतर्राष्ट्रीय छवि सुधरेगी तथा अधिकतर राष्ट्र विभिन्न मुद्दों पर उसका साथ देंगे। इस प्रकार वह अन्य राष्ट्रों में अपने प्रभाव के द्वारा अथवा आर्थिक सहायता बन्द कर देने के डर से अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो सकेगा। ज्यादातर शक्तिशाली राष्ट्रों के प्रभुत्व के पीछे आर्थिक सहायता एक प्रमुख कारण रहा है।

संचार तकनीक व अन्य क्षेत्रों में तकनीकी विकास न केवल राज्यों की क्षमताओं का विकास करेगा, बल्कि युद्ध व शान्ति के समय उसकी प्रभाविकता बढ़ायेगा। तकनीकी विकास के माध्यम से सभी क्षेत्रों में नवीनतम प्रयोग किए जायेंगे जो कम खर्चीले, टिकाऊ, उत्पादकता बढ़ाने वाले, सुनिश्चित व सुस्पष्ट होंगे। इससे देश में संचार, कृषि, स्वास्थ्य, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों का तीव्र विकास होगा। इससे बाह्य जगत में राष्ट्र द्वारा शक्ति प्रदर्शन की क्षमता का भी विकास होगा। इसके अतिरिक्त, इससे राष्ट्र की जनता का मनोबल भी बढ़ा रहेगा। विदेश नीति के संदर्भ में तकनीकी हस्तांतरण के माध्यम से वह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की विदेश नीतियों को भी प्रभावित करेगा। अतः तकनीकी विकास आर्थिक विकास को अत्यधिक स्थाई एवं दूरगामी बनाने में सहायक होगा।

3.2.2.5 सैन्य क्षमता

एक शक्तिशाली राष्ट्र के पास अपने संसाधनों एवं क्षमता के अनुरूप सैन्य शक्ति का होना भी आवश्यक है। यह सैन्य क्षमता न अधिक बड़ी तथा न ही अधिक छोटी होनी चाहिए, बल्कि उस राष्ट्र की विदेश नीति की प्रतिबद्धताओं को लागू करने में सक्षम होनी चाहिए। यह सेना पूर्ण रूप से प्रशिक्षित एवं उचित समन्वय के आधार पर कार्य करने वाली होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में राष्ट्र की सैन्य क्षमता तीन प्रमुख तत्वों— सैन्य नेतृत्व, गुप्तचरी व्यवस्था एवं हथियारों की उपलब्धता—पर निर्भर करती है।

किसी राष्ट्र की सेना कितनी ही सुसज्जित हो, बड़ी संख्या में हो, अच्छे हथियार रखती हो आदि, परन्तु यदि उसका नेतृत्व कुशल हाथों में है तो अपने उद्देश्य में सफल होगी वरना असफल रहेगी। कुशल सामरिक रणनीति व स्थिति के अनुसार सैन्य संचालन से ही कोई भी सेना सही अर्थों में अपनी चुनौतियों का मुकाबला कर सकती है। आधुनिक युग में सैन्य कौशल के साथ-साथ दूसरे राष्ट्र की तैयारियों का अनुमान भी अतिआवश्यक होता है। यह कार्य राष्ट्रों की गुप्तचारी सेवाओं में सैन्य कौशल के साथ-साथ राष्ट्र की तैयारियों का अनुमान भी अतिआवश्यक होता है। यह कार्य राष्ट्रों की गुप्तचरी सेवाओं के माध्यम से होता है। वर्तमान में गुप्तचरी आधुनिक संयंत्रों जैसे उपग्रहों आदि के माध्यम से भी होती है, परन्तु आज भी मानवीय तत्वों के द्वारा की जाने वाली गुप्तचरी को नहीं नकारा जा सकता। गुप्तचरी की विफलता भी कई बार सैन्य हार या पेशानी का कारण हो सकता है। भारत-चीन युद्ध (1962) व भारत-पाक कारगिल संघर्ष (1998) काफी हद तक गुप्तचरी व्यवस्था की असफलता का प्रतीक है। इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त हथियारों की उपलब्धता भी सैन्य शक्ति प्रदर्शन हेतु महत्वपूर्ण तत्व है। वर्तमान समय में परमाणु हथियारों के विकसित होने से कई राष्ट्रों का मानना है कि सुरक्षा सुनिश्चित हो गई है। लेकिन वास्तव में देखा जाए तो परमाणु, जैविक एवं रासायनिक हथियार मुख्यतः निरोधक व्यवस्था हेतु अधिक प्रयोग होते हैं। ये हथियार युद्ध से अधिक राजनय के हथियार हैं लेकिन यह भी सत्य है कि ये आज भी शक्ति के प्रतीक के रूप में माने जाते हैं तथा इनको रखने वाले राष्ट्रों से युद्ध करने से पहले विरोधी राष्ट्र को कई बार सोचना

पड़ता है। इसके साथ-साथ यह भी निश्चित है कि वास्तविक युद्ध आज भी अति आधुनिकतम परम्परागत हथियार ही प्रयोग में लाये जाते हैं। अतः किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र के पास कितने ही जैविक, परमाणु व रासायनिक हथियार हों, परन्तु परम्परागत हथियारों में श्रेष्ठता होना उसके लिए अति आवश्यक है।

3.2.2.6 सरकारी ढांचा

एक अच्छा सरकारी तंत्र का होना भी शक्तिशाली राष्ट्र हेतु आवश्यक होता है। सरकार के माध्यम से ही शक्ति के तत्वों को वास्तविकता प्रदान की जाती है। इस सन्दर्भ में सरकार के समक्ष दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करना अति अनिवार्य होता है— (क) नीतियों एवं संसाधनों में समन्वय बनाये रखना तथा (ख) विदेश नीति हेतु जनमत का समर्थन जुटाना।

- (क) एक अच्छी सरकार विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्यों की पहचान कर अपनी क्षमता व संसाधनों के द्वारा उन्हें लागू करने का प्रयास करती है। यदि उद्देश्य अत्याधिक विशाल होंगे तो जनसाधारण पर करों का भार बढ़ने के साथ-साथ उनसे धन प्राप्ति की स्थिति में राज्य निराशा का शिकार होगा। यदि उद्देश्य बहुत छोटे रखे तो राष्ट्र दुनिया के सामने कमजोर प्रदर्शित होगा तथा अंतर्राष्ट्रीय समाज में अपना उचित स्थान खो देगा। अतः एक ऐसी सरकार का होना अति आवश्यक है जो सही रूप से राष्ट्र के उद्देश्यों एवं साधनों में तालमेल पैदा कर सके।
- (ख) राज्य की किसी भी प्रकार की योजना, संसाधन, क्षमता आदि का प्रयोग जब तक नहीं किया जा सकता जब तक उनकी विदेश नीति के उद्देश्यों को जनमत का समर्थन प्राप्त नहीं हो। यह कार्य जितना मुश्किल है उतना ही जरूरी भी। विदेश नीति काफी हद तक अपनी गति खो देती है यदि उसे वहां के लोगों का समर्थन न मिले। एक अच्छी सरकार के लोगों की इच्छाओं व विदेश नीति के उद्देश्यों के बीच दूरी को कम करना होगा। उसे जनमत के नेतृत्व के रूप में आगे आना होगा। जरूरत पड़े तो कुछ गैर-जरूरी विदेश नीति के मुद्दों पर जनमत से सहयोग भी करना पड़ेगा। अतः अच्छा सरकारी ढांचा भी विदेश नीति के प्रभावी व शक्तिशाली होने में अहम भूमिका निभा सकता है।

3.2.2.7 विचारधारा

राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार में विचारधारा की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विशेषकर 20वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध विचारधारों के द्वारा निर्धारित हुए हैं। यह व्यक्ति, समाज, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि विषयों पर जनता का एक निश्चित दृष्टिकोण होता है। इन्हीं दृष्टिकोण को सामने रखकर राष्ट्र अपनी क्षमताओं/शक्ति का विकास करता है। सकारात्मक रूप में विचारधारा राष्ट्र का जनता को एकजुट करने का कार्य करती है। इससे लोगों में सहयोग व समर्पण की भावना उत्पन्न होती है। विचारधाराएं व्यक्ति की अपेक्षा समाज या समुदाय पर अधिक बल देती हैं। अतः इसे सरकार का जन समर्थन भी आसानी से मिल जाता है। यह राज्यों द्वारा शक्ति के प्रयोग को भी आवरण प्रदान कर देती है। अतः यहां शक्ति प्रयोग महज संघर्ष हेतु नहीं अपितु कुछ अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति हेतु होता है। इसीलिए राष्ट्र अपनी शक्ति का विकास जन समर्थन के साथ-साथ सरलतापूर्वक कर लेता है।

परन्तु कई बार विचाराधारों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की संभावनाएं बनती रहती हैं। जैसे दोनों विश्व युद्धों के बीच नाजीवाद, फासीवाद, साम्यवाद आदि विचारधारों में संघर्ष व टकराव चलता रहा। इसके अतिरिक्त ज्यादातर विचारधाराएं तानाशाही प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। इससे समाजों में जहां पूर्ण रूप से एक विचारधारा को स्वीकार न किया हो, विभाजन एवं संघर्ष की स्थिति भी बनी रही है।

1990 के दशक के बाद विचारधारों का अंत होता प्रतीत हो रहा है। क्योंकि सभी राष्ट्र भूमण्डलीकरण, मुक्त बाजार व उदारवाद के दौर में विचारधारा छोड़ कर पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़ने लगे हैं। परन्तु सही अर्थों में

देखें तो तो यह भी अपनी एक विचारधारा है। इसके भी लाभ व हानियां हैं। इसके आधार पर भी कुछ राज्य अति शक्तिशाली (अमीर) होते जा रहे हैं, तथा कमजोर राष्ट्र और कमजोर (गरीब) होते जा रहे हैं। अतः यह भी शक्ति बढ़ाने हेतु कुछ राष्ट्रों के हक में कार्यरत है।

3.2.2.8 मनोबल

राष्ट्रीय शक्ति का एक सूक्ष्म परन्तु प्रभावशाली तत्व मनोबल है। मनोबल का अर्थ है किसी राष्ट्र के निवासियों में निष्ठा, विश्वास, साहस आदि चारित्रिक गुणों का योग। इन गुणों से न केवल व्यक्ति का आत्मविश्वास ही बढ़ता है, अपितु इससे राष्ट्रीय हितों को भी बल मिलता है। कोई भी राष्ट्र तब तक सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक उसकी आन्तरिक व विदेश नीतियों को पूरे जोश व जन समर्थन हासिल न हो।

इसके द्वारा ही मनुष्य आपसी मतभेदों को भुलाकर स्वेच्छापूर्वक राष्ट्रीय हितों हेतु बड़े से बड़ा बलिदान देने के लिए तैयार हो जाता है। इसी मनोबल के आधार पर राष्ट्र अपनी संदिग्ध विजय को निश्चित जीत में बदल सकता है। इसे राष्ट्र प्रेम के समकक्ष भी माना जाता है। इसके सैनिकों में संचार से राष्ट्र बड़े-बड़े युद्ध भी जीत लेता है। वर्तमान युग में युद्ध जहां केवल सैनिकों तक सीमित न रहकर प्रत्येक नागरिक को भी शामिल करता है उस दृष्टि से मनोबल और अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। मनोबल युद्ध से ही नहीं, अपितु शान्तिकाल में भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है।

राष्ट्रीय मनोबल बढ़ाने का प्रमुख रूप से चार कारक उत्तरदायी होते हैं— (क) राष्ट्र के साथ तादात्म्य, (ख) राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति, (ग) सरकार में विश्वास, (घ) विचारधारा। राष्ट्रीय तादात्म्य से अभिप्राय है कि नागरिक किस सीमा तक उस राष्ट्र से अपने को जुड़ा हुआ महसूस करता है। अपने गौरवमय इतिहास को पहचानता व उसी प्रकार गौरव बढ़ाना हेतु प्रयासरत रहना राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति कराता है। सरकार में विश्वास से उसका मनोबल और अधिक बढ़ जाता है। अन्ततः विचारधारा लोगों में दृढ़ता, एकता व मनोबल को जागृत करती है। इस प्रकार विभिन्न तरीकों से मनोबल भी राष्ट्रीय शक्ति में सहायक होता है।

3.2.2.9 राजनय

कूटनीति किसी भी देश की विदेश नीति का मस्तिष्क होती है। कूटनीति की कला से ही राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अधिकतम लाभ अपने हक में किया जा सकता है। इसीलिए विदेश नीति के माध्यम से अपने अधिकतम राष्ट्र हितों की प्राप्ति करने हेतु उच्च दर्जे की राजनयिक क्षमता का विकास करना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि बहुत से देशों के अच्छे राजनय के कारण उन्हें अपने शक्तिशाली प्रभाव को बनाए रखा है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि आधुनिक युग में संचार व यातायात के साधनों के कारण कूटनीति का प्रभाव कम हो गया है। इसके अतिरिक्त शिखर सम्मेलनों के कारण भी राजनयिक की भूमिका कम हो गई है। परन्तु यह पूरा सत्य नहीं है क्योंकि वर्तमान युग में परमाणु, रसायनिक व जैविक शस्त्रों के विकास ने जहां इन शस्त्रों को युद्ध के शस्त्रों के रूप में प्रतिबन्धित होने की मनाही की है तो ये हथियार अब राजनय के साधन बन गये हैं। इन्हीं सुरक्षात्मक कारणों से राजनय का महत्व परिवर्तित सन्दर्भ में और बढ़ गया है।

अतः निष्कर्ष रूप में उपरोक्त तत्व सामूहिक व अन्तः निर्भरता के आधार पर राष्ट्र का विकास करते हैं। कई बार किस तत्व का कितना योगदान है यह बिल्कूल सही-सही कहना मुश्किल है। अतः इनका प्रारूप एक नदी की भांति है जिसके प्रवाह में इनके होने से राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण होता है। हां, इतना अवश्य है कि ये तत्व अपने आप में शक्ति नहीं है, बल्कि यह इनके उचित प्रयोग पर निर्भर करता है।

3.2.3 राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन एक बहुत ही जटिल परन्तु अनिवार्य प्रक्रिया है। इसके तत्व परस्पर जुड़े रहते हैं। अतः

इनके स्पष्ट प्रभाव को देखना उतना सरल नहीं होता। राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्वों का मूर्त रूप न होने के कारण भी समस्या आती है। परन्तु इन सभी समस्याओं के बाद भी आकलन को करना ही पड़ता है। परन्तु इसके मूल्यांकन में समस्या निम्नलिखित कारणों से आती है—

- I. किसी भी एक राज्य की शक्ति का मूल्यांकन करके कई बार हम उसे उचित मान लेते हैं। परन्तु वस्तुतः उसकी सही शक्ति दूसरे राष्ट्रों के सापेक्ष कम होती है। अतः अलग से एक राष्ट्र की शक्ति का आंकलन पूर्ण सत्य नहीं बताता।
- II. इसकी दूसरी समस्या है शक्ति का परितर्वनशील रूप। किसी भी राष्ट्र का आंकलन किसी विशेष संदर्भ या समय में तो ठीक होता है, परन्तु उसकी निरन्तरता को मानना गलत है।
- III. कई बार किसी एक कारक को ही राष्ट्रीय शक्ति का आधार मान लेना भी उसके सही आंकलन की प्रस्तुति नहीं है। कई विद्वान भूगोल, सैन्य शक्ति, राष्ट्रीयवाद आदि किसी भी तत्व को इतना महत्वपूर्ण मान लेते हैं कि अन्य सभी तत्व गौण प्रतीत होते हैं परन्तु इस आधार पर भी शक्ति का आंकलन गलत होता है।
- IV. शक्ति का अधिकतर मूल्यांकन अनुमान पर आधारित होता है। अनुमान व वास्तविक शक्ति की सही स्थिति का ज्ञान कई बार सम्भव नहीं हो पाता। उन दोनों में कितना अन्तर है यह शक्ति के प्रयोग की स्थिति में ही पता लग सकता है। परन्तु कई बार वह स्थिति आती ही नहीं।
- V. राष्ट्र की वर्तमान शक्ति व सम्भावित शक्ति में भी बड़ा अन्तर होता है। कोई राष्ट्र आज शक्तिशाली नहीं है, परन्तु भविष्य में एक बड़ी शक्ति बनने की सम्भावनाएं रख सकता है। परन्तु यह भी सत्य है कि शक्ति होने व शक्ति बनने के मध्य कई प्रकार के किन्तु, परन्तु व परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। अतः इसका वास्तविक भविष्य क्या होगा यह बात अनिश्चितता के गर्भ में छिपी हुई है।
- VI. अन्ततः एक समस्या इस दिशा में यह भी है कि शक्ति के विश्वसनीयता की। कई बार किसी राष्ट्र के पास विभिन्न हथियार होते हैं, परन्तु क्या आज के सन्दर्भ में उनका प्रयोग कर पायेगा क्या उसे इसका मौका मिलेगा? क्या उसका अपना विनाश भी उसके साथ ही हो जायेगा? इस प्रकार के प्रश्न शक्ति की विश्वसनीयता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं।

उपरोक्त मूल्यांकन संबंधित समस्याओं को देखते हुए शक्ति के मूल्यांकन के संदर्भ में निम्न सामान्य बातें कही जा सकती हैं—

- (क) राष्ट्र शक्ति का निर्माण विभिन्न तत्वों से होता है जो एक दूसरे के पूरक एवं अन्तः निर्भर होते हैं।
- (ख) शक्ति कभी भी निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती है।
- (ग) राज्य की शक्ति हमेशा गतिशील व परिवर्तनीय होती है।
- (घ) राष्ट्र शक्ति में भूगोल को छोड़कर शेष अन्य तत्व अस्थिर होते हैं।
- (ङ) राष्ट्र शक्ति विभिन्न तत्वों के अस्तित्व के साथ-साथ इसके प्रयोग पर निर्भर करती है।
- (च) उपयुक्त शक्तिशाली राष्ट्र बनने के लिए सभी तत्वों का उचित प्रयोग अनिवार्य है।

निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि हेतु भी सभी तत्वों का अधिकतम सदुपयोग जरूरी है। यह ज्ञात है कि शक्ति स्थाई नहीं रहती तथा इसका मूल्य सापेक्ष होता है इसीलिए किसी भी राष्ट्र को अपनी सुरक्षा हेतु यह आवश्यक है कि उसे अपने विरोधियों की शक्ति के संदर्भ में भी उचित ज्ञान हो। शायद इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र अपने शक्ति के विस्तार हेतु प्रत्यत्नशील रहते हैं और इसी कारण राष्ट्रों के मध्य शक्ति-संघर्ष निरंतर बना रहता है।

3.2.4 राष्ट्रीय शक्ति का प्रबन्धन

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली नहीं बना दिया जाता कि वह सम्पूर्ण विश्व पर अपना अधिपत्य स्थापित कर सके। इस सन्दर्भ में राष्ट्रों का शक्ति के विस्तार पर कुछ सीमाएं लगा दी गई हैं। इनमें प्रमुख हैं—(i) शक्ति संतुलन, (ii) सामूहिक सुरक्षा, (iii) अंतर्राष्ट्रीय कानून, (iv) अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा (v) अंतर्राष्ट्रीय जनमत। यद्यपि इन पांचों को एक श्रेणी में वर्गीकृत करने में कुछ आपत्ति है। वास्तव में पहले दो (शक्ति संतुलन व सामूहिक सुरक्षा) शक्ति प्रबन्धन के तरीके हैं तथा बाकी के तीन शक्ति पर प्रबंध के तरीके। परन्तु कई विद्वान इस अन्तर को नहीं मानते। अतः इस वाद-विवाद में उलझे बिना इन पांचों का गहन अध्ययन अनिवार्य है। इसी विश्लेषण के उपरान्त यह सुस्पष्ट हो सकेगा कि किस प्रकार इन तरीकों के माध्यम से राष्ट्रों की शक्ति पर अंकुश सम्भव है।

3.2.4.1 शक्ति संतुलन

शक्ति संतुलन की अवधारणा लगभग 15वीं शताब्दी से अंतर्राष्ट्रीय स्तर में प्रचलित है। शायद इसीलिए कुछ लेखक इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का बुनियादी सिद्धान्त तो कुछ इसे सार्वजनिक सिद्धान्त या राजनीति के मौलिक सिद्धान्त की संज्ञा देते हैं। साधारण शब्दों में शक्ति संतुलन का अर्थ है जब एक राज्य/राज्यों का समूह दूसरे राज्य/राज्यों के समूह के सापेक्ष अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ले कि वह उसके समकक्ष हो जाए। परन्तु इस धारणा की परिभाषा को लेकर विद्वान एकमत नहीं है। शायद इसीलिए इनिंस एल क्लॉड का कहना है कि यह ऐसी अवधारणा है जिसकी परिभाषा की समस्या नहीं है बल्कि समस्या यह है कि इसकी बहुत सारी परिभाषाएं हैं। इन परिभाषाओं से पहले यह बताना भी आवश्यक है कि यह दो प्रकार की होती हैं— सरल एवं जटिल। सरल या साधारण शक्ति संतुलन जब होता है जब यह तुलना दो राष्ट्रों या दो राष्ट्रों के समूहों बीच में सीधे तौर पर हो। लेकिन यदि यह संतुलन दो समुदायों के परस्पर तथा इनमें सम्मिलित समुदायों में आन्तरिक रूप में भी हो तब यह जटिल संतुलन कहलाता है। इसके संदर्भ में विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएं दी हैं जो इस प्रकार हैं।

- I. **मोरगेन्थाऊ**— प्रत्येक राष्ट्र यथास्थिति को बनाये रखने अथवा परिवर्तित करने के लिए दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। इसके परिणामस्वरूप जिस ढांचे की आवश्यकता होती है वह शक्ति संतुलन कहलाता है।
- II. **जार्ज इचवर्जन बर्गट**—शक्ति संतुलन वह साम्यावस्था अथवा अंतर्राष्ट्रीय संबंध में कुछ मात्रा में स्थिरता या स्थायित्व है, जो राज्यों के बीच मैत्री-संधियों या अन्य दूसरे साधनों की मदद से प्राप्त किए जा सकते हैं।
- III. **क्विंसी राइट**— शक्ति संतुलन वह व्यवस्था है जिसके अंतर्गत प्रत्येक राज्य में यह विश्वास बनाये रखने का सतत प्रयत्न किया जाता है कि यदि राज्य आक्रमण का प्रयत्न करते हैं तो उन्हें अजेय दूसरे राष्ट्रों के समूह का प्रतिरोध करना होगा।
- IV. **सिडनी फे**— शक्ति संतुलन से अभिप्राय राष्ट्रों के परिवारों के सदस्यों के बीच शक्ति की न्यायपूर्ण साम्यवस्था से है जो किसी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली होने से रोकता है ताकि वह दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लाद न सके।

इस प्रकार शक्ति संतुलन के विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से देखा है। कोई इसे शक्ति के वितरण के रूप में देखते हैं तो कोई इसे समूहों के बीच साम्यावस्था के रूप में, कोई इसे स्थायित्व के रूप में, तो कोई इसे युद्ध व अस्थिरता के रूप में। कहने का अर्थ यह है कि परिभाषाओं में सर्वसम्मति का अभाव है। शायद यह इसलिए है कि शक्ति संतुलन के अनेक अर्थ/प्रयोग हैं जिस वजह से यह भ्रांति बनी हुई है। मुख्य तौर पर शक्ति संतुलन को चार सन्दर्भों में प्रयोग किया जाता है।

- (क) एक अवस्था के रूप में
- (ख) एक नीति के रूप में
- (ग) एक व्यवस्था के रूप में
- (घ) एक प्रतीक के रूप में

मान्यताएं— क्विंसी राईट के अनुसार शक्ति संतुलन का सिद्धान्त पांच मान्यताओं पर आधारित है—

- (क) प्रत्येक राष्ट्र अपनी उपलब्ध शक्ति एवं साधनों के द्वारा, जिनमें युद्ध भी शामिल है, अपने मार्मिक हितों—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, क्षेत्रीय अखण्डता, राष्ट्रीय सुरक्षा, घेरलू राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की रक्षा आदि के लिए प्रतिबद्ध हैं।
- (ख) राज्य के मार्मिक हितों को या तो खतरा होता है या खतरे की सम्भावना बनी रहती है। अतः राज्यों के लिए प्रतिदिन परिवर्तनशील शक्ति संबंधों से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।
- (ग) शक्ति संतुलन के द्वारा राज्यों के मार्मिक हितों की रक्षा होती है। शक्ति संतुलन के कारण या तो अधिक शक्तिशाली राज्य का आक्रमण करने का साहस ही नहीं होता और यदि वह ऐसा करने का दुस्साहस भी करें तो आक्रमण के शिकार राज्य को हार का मुंह नहीं देखना पड़ता।
- (घ) राज्यों की सापेक्षिक शक्ति को निश्चित तौर पर आंका जा सकता है। यद्यपि शक्ति का आंकलन एक कठिन समस्या है, परन्तु इसके अतिरिक्त राज्यों के पास कोई ऐसा आधार भी नहीं है जिसके सहारे वे सैनिक तैयारी पर अपने खर्च का अनुपात तय कर सकें।
- (ङ) शक्ति सम्बन्धित तथ्यों की बुद्धिपूर्ण सूक्ष्म विवेचना के द्वारा ही राजनीतिक विदेश नीति निर्णय लेते हैं अथवा ले सकते हैं।

विशेषताएं— शक्ति संतुलन की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं—

- I. सामान्य रूप से यह यथास्थिति बनाए रखने की नीति है, परन्तु वास्तव में यह हमेशा गतिशील व परिवर्तनीय होती है।
- II. यह कोई दैवी वरदान नहीं है, अपितु यह मानव के सतत हस्तक्षेप का परिणाम है।
- III. यह व्यक्तिपरक व वस्तुनिष्ठ दोनों प्रकार से परिभाषित होता है। इतिहासकार हमेशा इसकी व्यक्तिपरक विवेचना करते हैं।
- IV. यद्यपि यह शान्ति स्थापित करने का तंत्र है, परन्तु यह मुश्किल से ही कभी शान्ति स्थापित करता है।
- V. यह मुख्यतया महाशक्तियों का खेल है। छोटे राष्ट्र तो मात्र दर्शक की भूमिका ही निभाते हैं।
- VI. इसके सही संचालन हेतु एक संचालक की आवश्यकता होती है जो आज के युग में नदारद है।
- VII. यह साम्यावस्था के आधार पर शक्तियों का समान वितरण करता है। परन्तु यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसा समय नहीं रहा।
- VIII. शक्ति संतुलन की व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शायद ही दृष्टिगोचर हो, क्योंकि शक्ति तत्व का मापना व स्थिर कर पाना संभव नहीं है।

शक्ति संतुलन के तरीके

शक्ति संतुलन की स्थापना हेतु निम्नलिखित तरीकों का प्रयोग किया जाता है—

- (क) **क्षतिपूर्ति**— कभी-कभी बड़ी शक्तियां छोटे राज्यों की भूमि को आपसी संतुलन हेतु बांट लेती हैं। यह सीमा परिवर्तन इस आधार पर किया जाता है कि आपसी शक्तियों में से कोई भी एक दूसरे से शक्तिशाली न बन जाए। उदाहरण के रूप में, यूट्रेच की संधि के बाद 1713 में स्पेन की भूमि को बोर्बोन व हैप्सबर्ग के बीच बांट दिया गया। इसी प्रकार पोलैंड को तीन बार (1772, 1793 व 1795) में इस प्रकार विभाजित किया गया कि शक्ति संतुलन न बिगड़े। इसी प्रकार 18वीं व 19वीं शताब्दी में विभिन्न सन्धियां इसी दृष्टिकोण को मध्य नजर रखकर हुईं।
- (ख) **संधियां एवं प्रति संधियां**— मैत्री संधियां भी शक्ति संतुलन का प्रमुख साधन रही हैं। लेकिन जब एक राष्ट्र मैत्री सन्धियों के द्वारा अपनी शक्ति बढ़ा लेता है तब अन्य राज्य भी आशांकित होकर आपस में प्रति मैत्री सन्धियां करने लगते हैं। इस प्रकार की मैत्री सन्धियों एवं प्रति मैत्री सन्धियों का दौर यूरोप की राजनीति में आमतौर पर देखने को मिलता है। उदाहरणस्वरूप 1882 के त्रिराष्ट्रीय संधि के गठन के विरोध स्वरूप अन्य राष्ट्रों के बीच भी विरोधी त्रिराष्ट्रीय मैत्री सन्धियों पर सहमति हुई ताकि यूरोप की राजनीति में संतुलन बनाया जा सके। इसी प्रकार के उदाहरण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों के बीच स्थापित गठबंधनों के रूप में सामने आया।
- (ग) **शस्त्रीकरण व निशस्त्रीकरण**— शस्त्रीकरण शक्ति का प्रत्यक्ष एवं अग्रतम रूप है। इसीलिए राज्यों के मध्य, विशेषकर अपने प्रतिद्वंद्वी से, शस्त्रों को संचय करने की होड़ लग जाती है। इस संचय से उनकी सैन्य शक्ति का विकास होता है तथा अपने विरोधियों पर दबाव बढ़ाने के काम आता है। परन्तु दूसरा राष्ट्र या राज्यों का समूह भी पीछे नहीं रहना चाहता, अतः दोनों ही एक दूरे को संतुलित करना चाहते हैं उदाहरणस्वरूप, शीतयुद्ध युग में पूर्व सोवियत संघ व अमेरिका के बीच शस्त्रीकरण ही दोनों द्वारा एक दूसरे को संतुलित करने का माध्यम रहा है। शस्त्रीकरण के साथ-साथ निःशस्त्रीकरण भी कई बार शक्तियों के मध्य संतुलन बनाने का कार्य करता है। जब शस्त्रीकरण एक चरम सीमा के बाद आगे बढ़ाना सम्भव न रह सके तब शक्तियां निःशस्त्रीकरण की तरफ कदम बढ़ाती हैं। उदाहरण के रूप में दोनों महाशक्तियों की बीच साल्ट-I, साल्ट-II, स्टार्ट-I व स्टार्ट-II, आईएनएफ संधि आदि समझौते इसका प्रमाण हैं। अन्य राष्ट्रों के बीच भी वर्तमान समय में शस्त्रीकरण से तंग आकर विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों का उठाया जाना इसका प्रमाण है।
- (घ) **मध्यवर्ती राज्य**— कई बार दो शक्तियां आपसी सीधे टकराव को टालकर किसी एक राज्य को मध्य रखकर आपसी संतुलन बनाए रखती हैं। अतः ऐसा कमजोर व तटस्थ राज्य हमेशा दो बड़ी ताकतों के बीच युद्ध की संभावनाएं टली रहने के साथ-साथ शक्ति संतुलन भी बना रहता है। उदाहरण के रूप में, काफी समय तक पोलैंड रूस व जर्मनी के बीच मध्यवर्ती राज्य बना रहा। अफगानिस्तान रूस व इंग्लैंड के बीच इस स्थिति में काफी देर तक रहा। कभी-कभी दो गैर मित्र राष्ट्र मध्यवर्ती क्षेत्र को बराबर-बराबर बांट लेते हैं ऐसी स्थिति में मध्यवर्ती क्षेत्रों का प्रभाव न्यूनतम हो जाता है। उदाहरण के रूप में जर्मनी, कोरिया, हिन्द चीन का विभाजन। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति ये क्षेत्र समाप्त प्राय हो गये हैं। अतः इनका प्रभाव भी शक्ति संतुलन हेतु नगण्य हो गया है।
- (ङ) **हस्तक्षेप एवं अहस्तक्षेप**— हस्तक्षेप की नीति हमेशा शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा दूसरे के मामले में दखलंदाजी करके अपने प्रभाव को बढ़ाने से है। इसका उद्देश्य बड़े राष्ट्र द्वारा वहां पर किसी शासन के बने रहने या बदलने के स्वरूप में होता है। इस साधन के माध्यम से शक्ति संतुलन बनाये रखने का प्रयास होता है।

शीतयुद्ध काल में दोनों महाशक्तियों ने इसका खूब प्रयोग किया।

अहस्तक्षेप द्वारा संतुलन बनाए रखने की नीति आमतौर पर छोटे राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई है। इससे छोटे राज्यों द्वारा तटस्था के रूप में अपनाया गया है। कुछ परिस्थितियों में बड़े राष्ट्रों ने भी इसका सहारा लिया है। ज्यादातर एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिकी देशों ने गुट निरपेक्षता की नीति अपनाकर अहस्तक्षेप नीति का पालन किया है। इससे युद्ध न करने या उसे सीमित रखने या उसके स्थानीय स्वरूप देने का प्रयास आदि इसी के अंतर्गत आ जाते हैं।

(च) **फूट डालो और राज करो** – अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी ताकतों द्वारा फूट डालों, राज करो की नीति का भी अनुसरण किया है। राज्यों को दो विरोधी गुटों में बांट कर भी शक्तियां उस क्षेत्र में शक्ति संतुलन स्थापित करती हैं। यह नीति मुख्य रूप से ब्रिटेन द्वारा अपने साम्राज्य का एकीकृत रखने हेतु काफी बार प्रयोग की गई। 1947 का भारत-पाक विभाजन इसका सशक्त उदाहरण है। इस नीति के अंतर्गत अपने प्रतिद्वंद्वियों को कमजोर करके संतुलन बनाने का प्रयास किये जाते रहे हैं। शीतयुद्ध काल में महाशक्तियों ने भी गुटनिरपेक्ष देशों में इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया है।

मूल्यांकन

यदि शक्ति संतुलन का मूल्यांकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तरीके से शक्ति पर पूर्ण सीमाएं तो न लग सकीं। हां कुछ हद तक यह सिद्धान्त अपने उद्देश्यों में सफल हो सका। इस सिद्धान्त के पूर्ण रूप से शक्ति के विकास पर अंकुश न लगा पाने के निम्नलिखित कारण रहे –

1. इससे शान्ति स्थापना की बजाय शक्ति प्रतिद्वंद्विता बड़ी जिसके परिणामस्वरूप युद्धों को बढ़ावा ही मिला।
2. शक्ति संतुलन को व्यवहारिक रूप देने में शक्ति का सही आकलन अति आवश्यक है, परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी राष्ट्र की शक्ति का बिल्कुल सही आंकना सम्भव ही नहीं है।
3. यह सिद्धान्त अंतर्राष्ट्रीय कानून व अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के भी विरुद्ध है। कानून व नैतिकता की परवाह किए बिना स्थाई शान्ति की स्थापना संभव नहीं है।
4. शक्ति संतुलन के आधार पर केवल महाशक्तियों हेतु लाभकारी है। इससे छोटे, निर्बल एवं विकासशील देशों को फायदा नहीं होगा। यह विश्व के एक बड़े भाग को शान्ति के लाभों से वंचित रखेगा अतः यह विश्व हेतु भी लाभकारी नहीं हो सकता।
5. यह सिद्धान्त सामान्यतया स्थिरता हेतु बनाया गया है, परन्तु इसमें संलिप्त राज्य हमेशा अस्थिर रहेंगे। क्योंकि उन्हें शक्ति संतुलन हेतु हमेशा परस्पर समीकरण, फिर नये समीकरण बनाने पड़ते रहेंगे। अतः यह वास्तविक रूप में स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि शक्ति विस्तार या शक्ति संघर्ष रोकने हेतु यह सिद्धान्त पूर्णरूपेण सक्षम नहीं है। लेकिन इसके माध्यम से आंशिक सफलता अवश्य मिलती है, क्योंकि – प्रथम, छोटे राज्य अपनी सुरक्षा आश्वस्त कर सकते हैं। द्वितीय यह किसी बड़ी शक्ति के आधिपत्य स्थापना पर भी अंकुश रखेगा। तृतीय, यह युद्धों को भी टालने में सक्षम है चतुर्थ, संप्रभू राज्यों पर किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में अंतर्राष्ट्रीय कानून भी केवल शक्ति संतुलन से ही सम्भव है। अतः यह कुछ हद तक शक्ति के निरंकुश या आधिपत्य स्थापित करने की सम्भावनाओं को आंशिक रूप में रोकने में सक्षम है।

3.2.4.2 सामूहिक सुरक्षा

शक्ति विस्तार व विश्व में युद्धों को रोकने का एक कारगर माध्यम सामूहिक सुरक्षा माना गया है। इसके अंतर्गत

सुरक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने हेतु राष्ट्रों द्वारा सामूहिक प्रयास करने की बात कहीं गई है। यद्यपि यह सिद्धान्त प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरान्त स्थापित राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र संगठनों के अंतर्गत अपनाया गया, परन्तु इसकी उपस्थिति को 17वीं शताब्दी के कई विद्वानों के ग्रंथों में पाया जाता है। 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि में भी यह उल्लेख था कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों को यह अधिकार है कि किसी के भी विरुद्ध कदम उठाने व कार्यवाही करने का अधिकार है जिससे शान्ति की रक्षा की जा सके। बाद में ओस्नोब्रुक की सन्धि में भी सम्भावित शत्रु के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने की बात कहीं गई थी। 19वीं शताब्दी में कई लेखकों ने भी इसका समर्थन किया, परन्तु इसको व्यावहारिक रूप 20वीं शताब्दी में राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत ही प्राप्त हुआ।

सामान्य रूप से सटीक परिभाषा दे तो इसका अर्थ है – “एक के लिए सब और सब के लिए एक।” इस प्रकार से किसी राष्ट्र की शान्ति व सुरक्षा हेतु सभी सामूहिक कार्यवाही करने की तत्पर रहेंगे। परन्तु इस प्रकार की कार्यवाही से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि इस अवधारणा की कुछ आधारभूत मान्यताएं हैं, जो निम्नलिखित हैं –

1. सामूहिक सुरक्षा पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए ताकि आक्रमणकारी या तो युद्ध न कर सके और यदि करें भी तो उसे पराजय का मुंह देखना पड़े।
2. सामूहिक सुरक्षा हेतु एकत्रित राष्ट्रों के बीच सुरक्षा सम्बन्धित मुख्य बातों को लेकर समान विचार होने चाहिए।
3. सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्ध राष्ट्रों को इस कार्यवाही हेतु अपने परस्पर विरोधी विचारों को त्यागना होगा।
4. सामूहिक सुरक्षा से जुड़े राष्ट्र मुख्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथास्थिति बनाये रखने के पक्षधर होते हैं।
5. सामूहिक सुरक्षा के कारगर होने हेतु सभी राष्ट्र आक्रामककर्ता का निर्णय लेने में एकमत होंगे।
6. इससे सम्बन्ध राष्ट्रों के मध्य इस विचारधारा में पूरी आस्था होनी चाहिए।
7. इसके अत्याधिक प्रभावशाली होने हेतु सभी या कम से कम अधिकांश राष्ट्र इसमें सम्मिलित होने चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था शक्ति प्रबन्धन को सुचारु रूप से चला सकती है। सैद्धान्तिक रूप से इस व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट रूप से उजागर होती हैं –

1. यह व्यवस्था मुख्य रूप से सामूहिक प्रयास है जो – “एक के लिए सब तथा सबके लिए एक” के सिद्धान्त पर आधारित है।
2. यह व्यवस्था आक्रामक बल प्रयोग का विरोध करती है। इसमें प्रारम्भ में मतभेदों को शान्तिपूर्ण तरीकों के माध्यम से हल करने की कोशिश की जाती है। बल प्रयोग केवल अन्तिम विकल्प के रूप में ही प्रयोग किया जाता है।
3. सभी राष्ट्रों के सामूहिक प्रयास व संयुक्त संसाधनों के माध्यम से शक्ति प्रयोग को भंग करने वालों के प्रति निवारक के रूप में होता है।
4. सामूहिक सुरक्षा ‘शक्ति’ को एक अखंडनीय व अविच्छीन मानता है।
5. इस सिद्धान्त के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथा शक्ति को बनाये रखने का प्रयास किया जाता है।
6. यह सिद्धान्त यह मानता है कि सभी राष्ट्रों के लिए सुरक्षा उसकी सर्वोपरि प्राथमिकता होती है।

7. यह मानता है कि विश्व शान्ति हेतु प्रत्येक राज्य की सुरक्षा में सभी राष्ट्रों का सहयोग अति आवश्यक होता है।

इस व्यवस्था का व्यवहारिक स्वरूप 20वीं शताब्दी में राष्ट्रसंघ व संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत देखने को मिला है, जो इस प्रकार है –

(क) राष्ट्रसंघ व सामूहिक सुरक्षा – सर्वप्रथम राष्ट्र संघ के संविदा के अनुच्छेद 10-16 तक इसका वर्णन सम्मिलित किया गया था। इन धाराओं में इसका वर्णन निम्न प्रकार से है –

1. अनुच्छेद 10 के अंतर्गत सभी सदस्यों को प्रादेशिक एकता एवं राजनैतिक स्वतंत्रता के सम्मान के खतरे की स्थिति में परिषद् उचित कार्यवाही हेतु कदम उठा सकती है।
2. अनुच्छेद 12 में प्रत्येक विवादों को न्यायिक प्रक्रिया द्वारा हल करने के प्रयास किए जाएंगे लेकिन कम से कम न्यायिक निर्णय के 3 माह तक राज्यों को युद्ध का अधिकार नहीं होगा।
3. अनुच्छेद 16 में यह दिया गया है कि जब अन्य तरीकों से समस्या का समाधान नहीं होता तब परिषद् सामूहिक सुरक्षा हेतु उपयुक्त कदम उठा सकती है।

परन्तु उपयुक्त प्रावधानों के होते हुए भी राष्ट्र संघ ने उनका कभी उपयोग नहीं किया। राष्ट्र संघ के असफलता हेतु जिम्मेदार तत्वों ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। इसमें मुख्य रूप से अमेरिका द्वारा राष्ट्रसंघ का सदस्य न बनना, विजित व हारे राष्ट्रों के बीच प्रतिद्वंद्विता जारी रहना, जर्मनी व फ्रांस के मतभेद वहीं पर रहना, सोवियत संघ का इस संगठन से बाहर रहना, परिषद् की सदस्यता बदलते रहना, जापान, जर्मनी व इटली द्वारा इसकी खुली अवमानना करना आदि बहुत से ऐसे कारण हैं जिसकी वजह से प्रारंभिक कुछ वर्षों को छोड़ दे तो राष्ट्र संघ विफल रहा। अतः स्वभाविक था कि सामूहिक सुरक्षा की भी विफलता अनिवार्य थी। अतः सामूहिक सुरक्षा के विकास व इसे लागू करने के संदर्भ में राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से दुविधाग्रस्त था तथा प्रारम्भ से ही शक्तिहीन रहा।

(ख) संयुक्त राष्ट्र संघ व सामूहिक सुरक्षा – राष्ट्र संघ के अनुभवों से शिक्षा लेते हुए संयुक्त राष्ट्र चार्टर में इसका अति स्पष्ट आलेख किया गया। यद्यपि सम्पूर्ण चार्टर में “सामूहिक सुरक्षा” शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु अध्याय सात में संयुक्त कार्यवाही ही सामूहिक सुरक्षा का स्वरूप है। सैद्धान्तिक रूप में चार्टर में चार व्यवस्थाओं के अंतर्गत इसका उल्लेख है – (i) अनुच्छेद-1 (अध्याय-1), (ii) अनुच्छेद 39-51 (अध्याय-7), (iii) अनुच्छेद 52-54 (अध्याय-8), तथा “शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव” (1950)।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के भाग 1 में इसके उद्देश्यों का वर्णन करते हुए अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा हेतु संयुक्त राष्ट्र सामूहिक कार्यवाही करेगी। क्षेत्रीय शान्ति व सुरक्षा हेतु ये संगठन संयुक्त राष्ट्र की अनुमति के साथ सामूहिक कार्यवाही कर सकते हैं। 1950 में कोरिया के संकट के समय महासभा द्वारा शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव के माध्यम से यह व्यवस्था की गई है कि यदि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के खतरे की आशंका पर सुरक्षा परिषद् कोई कार्यवाही नहीं करता है तो महासभा सुरक्षा परिषद् को कार्यवाही हेतु कह सकता है। अतः उपरोक्त तीनों परिस्थितियों से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उद्देश्यों एवं व्यवहार में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है। वास्तविक रूप में अध्याय 7 में दण्डात्मक कार्यवाही के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। इसके अंतर्गत कार्यवाही से पूर्व अनुच्छेद 41 में गैर सैनिक कदम उठाने पर जोर दिया गया है। ताकि आक्रमणकारी राज्य विश्व शान्ति को खतरा न बने। इसके बाद अनुच्छेद 42 में घेराबन्दी की व्यवस्था की गई है। अन्ततः सैन्य कार्यवाही का प्रावधान है जिसमें सभी राष्ट्रों को दायित्व है कि वे सेना में अपना सहयोग देंगे (अनुच्छेद 43 व 44)। इसके बाद एक सैन्य स्टॉफ समिति के गठन की बात की गई है जो एक कमाण्डर के अधीन संयुक्त राष्ट्र के झंडे के नीचे कार्यवाही करेंगे (अनुच्छेद 47)। अतः इस प्रकार सभी अन्य कार्यवाही के विफलता के बाद युद्ध

की कार्यवाही को स्वीकृत किया है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस कार्यवाही का अगुवा संयुक्त राष्ट्र का कमाण्डर होगा, किसी एक देश या अन्य संगठन का नहीं। इस कार्यवाही हेतु भाग लेने के लिए अधिकांश देशों का होना अनिवार्य नहीं तो कम से कम वांछनीय अवश्य है।

मूल्यांकन

सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र के अधीन शक्ति को रोकने या सीमाबद्ध करने में सक्षम है या नहीं यह इसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलुओं के मूल्यांकन के बाद ही कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से, इसकी सफलता के संदर्भ में कई प्रश्न उठाये गये हैं। क्या सभी राष्ट्र आक्रमणकारी को पहचानते हैं? क्या आक्रमण को रोकने हेतु सभी पूर्ण रूप से इच्छुक हैं? क्या सामूहिक समूह आक्रमणकारी से अधिक शक्तिशाली है? क्या विश्व शांति शक्ति विस्तार से संभव है? क्या सभी देश राष्ट्रहितों को भुलाकर एकजुट हो सकेंगे? आदि।

सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावहारिक रूप से भी देखें तो शीतयुद्ध तथा उत्तर शीतयुद्ध कालों में अपनी-अपनी प्रकार से सामूहिक सुरक्षा की अवहेलना की है। शीतयुद्ध काल में युद्ध व शांति का प्रश्न विचारधारा के आधार पर तय किया जाता था। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र के फैसलों पर समर्थन। इसीलिए शायद इस युग में हुई कोरिया (1950) के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही पूर्णतया सफल नहीं हो सकी। बल्कि यह कार्यवाही भी विशेष स्थिति में ही सम्भव हो सकी जब यह निर्णय दिया गया कि संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही से गैर-हाजिर रहना वीटों नहीं माना जा सकता। शीतयुद्धोत्तर युग में ईराक के विरुद्ध हुई कार्यवाही (1990 व 2003) को भी वस्तुनिष्ठ एवं संयुक्त राष्ट्र की संज्ञा देना गलत होगा। यह कार्यवाही भी मुख्य रूप से अमेरिका व नाटो देशों या बाद में अमेरिका व ब्रिटेन की संयुक्त कार्यवाही कहा जा सकता है। इस कार्यवाही के दौरान न तो संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धाराओं का पालन किया तथा न ही युद्ध टालने को कोशिश की गई। बल्कि ऐसा लगा कि अपने कुछ अस्पष्ट हितों की पूर्ति हेतु यह युद्ध लड़ा गया। इसके अतिरिक्त, अब युद्ध में हुए भारी मात्रा में विध्वंस के बाद अमेरिका द्वारा यह स्वीकारना कि हथियारों के संदर्भ में उसे गलत रूप से सूचित किया इस सारे घटनाक्रम को हास्यास्पद बना देता है। परन्तु क्या ऐसा कहने से ईराक के नुकसान की भरपाई हो जायेगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि शीतयुद्धोत्तर युग में अमेरिका के एकमात्र शक्ति रहने के कारण उसकी किसी भी कार्यवाही को रोक पाना असम्भव है। अतः अमेरिका द्वारा किए गए सभी आक्रमण उचित माने जायेंगे।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सिद्धान्त व व्यवहार दोनों की परिस्थितियों में अब सामूहिक सुरक्षा के आधार पर शक्ति पर अंकुश लगाना कठिन है। कारण जो भी हो यह बात शीतयुद्ध काल में भी सत्य थी और आज शीतयुद्धोत्तर युग में भी सही है। इसके साथ-साथ परमाणु, जैविक एवं रासायनिक हथियारों के संदर्भ में युद्धों को रोकना भी कठिन होता जा रहा है। अतः इस सिद्धान्त हेतु शक्ति पर सीमाएं लगाना अधिक कारगर नहीं रहा।

3.2.5 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं

3.2.5.1 अंतर्राष्ट्रीय कानून

अंतर्राष्ट्रीय कानून भी शक्ति पर अंकुश लगाने का एक प्रभावशाली तरीका है। वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय कानून का महत्व बढ़ता जा रहा है। यदि इसकी परिभाषाओं का आकलन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून का दायरा भी बढ़ता जा रहा। परन्तु इन सब बातों का अध्ययन करने से पूर्व इसे परिभाषित करना आवश्यक है जो इस प्रकार से है –

1. **ओपनहाइम** – अंतर्राष्ट्रीय कानून उन परंपरागत एवं परस्पर समझौतों से निर्मित अभिसमयात्मक नियमों का ऐसा संग्रह है जिन्हें सभ्य राज्य अपने व्यवहार में पालने योग्य समझते हैं।

2. **ह्यूज** – अंतर्राष्ट्रीय कानून ऐसे सिद्धान्त का समूह हैं जिनको सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में प्रयोग करना बाध्यकारी समझते हैं। यह कानून प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों की स्वीकृति पर निर्भर रहता है।
3. **जे.जी. स्टार्क** – यह एक ऐसे कानून का समूह है जिसके अधिकांश भाग का निर्माण उन सिद्धान्तों तथा आचरण के नियमों से हुआ। जिसके सम्बन्ध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि इसका पालन करने हेतु बाध्य हैं। इसमें दो प्रकार के नियम सम्मिलित होते हैं – (क) अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं व संगठनों की कार्यप्रणाली से संबंध रखने वाले तथा इन संस्थाओं के राज्यों तथा व्यक्तियों से संबंध रखने वाले कानून के नियम (ख) व्यक्तियों से तथा राज्योपरि सत्ताओं से संबंध रखने वाले कानून के नियम।

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का क्षेत्र बढ़ा व्यापक होता जा रहा है। यह एक तरफ जहां राष्ट्रों, राष्ट्रोपरि संस्थाओं, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों एवं संस्थाओं, इनसे जुड़े व्यक्तियों आदि सभी के अध्ययन का समावेश कर रहा है, वहीं दूसरी ओर विश्व समुदाय के लिए बाध्यकारी संहिता का हिस्सा बनता जा रहा है। वर्तमान समय में विभिन्न कारणों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इनका महत्व बढ़ता जा रहा है। शक्ति संघर्ष को कम करने तथा अराजकता की स्थिति को दूर करने हेतु कुछ नियमों का होना अनिवार्य हो गया है। इसके अतिरिक्त, दूरगामी विश्वशांति का आधार तैयार करने हेतु भी अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का अति महत्व है। वर्तमान समय में परमाणु, जैविक व रासायनिक हथियारों के विकास के दौर से राज्यों के बीच समन्वय पैदा करना अनिवार्य ही नहीं अपितु मजबूरी बन गया है। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में राज्यों के मध्य आर्थिक व व्यापारिक हितों का सुचारु संचालक हेतु भी कुछ नियमावली का होना अति आवश्यक है। वर्तमान शीतयुद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए ध्रुवीकरण के पश्चात् गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के कमजोर पडने तथा अमेरिका को बढ़ते वर्चस्व के परिणामस्वरूप भी यह अति महत्वपूर्ण हो गया है। अन्ततः ईराक जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए भी अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का महत्व अति आवश्यक है।

परन्तु अंतर्राष्ट्रीय कानून द्वारा किस हद तक शक्ति विस्तार पर अंकुश लगाया जाता है, इससे पूर्व कुछ लोग इसके कानून होने या न होने पर भी प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। जिन विद्वानों का मत है कि यह कानून नहीं है उनके तर्क इस प्रकार से हैं – इनके पीछे बाध्यकारी शक्ति नहीं होती यह सम्प्रभु का आदेश नहीं है इसको बनाने वाली विधानमण्डल का अभाव है; इसकी व्याख्या करने वाली राष्ट्रीय न्यायपालिका जैसी संस्था नहीं है, इसकी संहिता का अभाव है आदि। लेकिन इसके कानून होने के पक्षधर कुछ इस प्रकार की दलीलें देते हैं। नैतिकता के नियम ज्यादा प्रभावी होते हैं, कानून को न मानने का अर्थ इसके अस्तित्व को नकारना नहीं है, सभी राष्ट्र अपने व्यवहार में इनका पालन करते हैं, इसके निर्माण की भी संस्थाएं (संयुक्त राष्ट्र) उपलब्ध हैं, अंतर्राष्ट्रीय न्यायपालिका भी है आदि। इन दोनों पक्षों के वाद-विवाद के बाद हम कह सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, भले ही वास्तविकता में इसका विषय क्षेत्र, अध्ययन पद्धति, कानून निर्माण व्यवस्था, आदि राष्ट्रीय कानूनों के समकक्ष भी न हों।

इस प्रकार सभी पहलुओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून बेशक कमजोर है परन्तु शक्ति पर अंकुश रखने में कई प्रकार से भूमिका निभाता है – प्रथम, राज्य कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि इससे अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में अराजकता की स्थिति न पनपे। क्योंकि यदि राष्ट्रों को अपने राष्ट्रहितों की पूर्ति करनी है तो वह केवल शान्ति व व्यवस्थापरक विश्व में ही सम्भव हो सकती है। अतः कानून शक्ति पर अंकुश लगाकर ही राष्ट्रहित पूर्ति में सहायक है। द्वितीय, बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय खतरों को देखते हुए भी यह शक्ति पर अंकुश रखता है। वर्तमान समय में मानव जाति के विध्वंस के हथियारों (परमाणु, जैविक एवं रासायनिक) पर भी रोक अंतर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से ही लगाई जा सकती है। तृतीय, अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला विश्व जनमत को अपने विरुद्ध पाता है। इस प्रकार राष्ट्रों के समुदाय में अपनी छवि ठीक रखने हेतु भी राष्ट्रों को ऐसा करना पड़ता है। चतुर्थ, अंतर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही भी हो सकती है। उदाहरण स्वरूप, सुरक्षा

परिषद् चार्टर के अनुसार अनुच्छेद 10, 39, 41 व 94 (2) के अंतर्गत कानून तोड़ने वाले राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। अतः अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत दण्डात्मक कार्यवाही। सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही भी राज्यों पर उचित अंकुश रखती है। पंचम, समय-समय पर शान्ति व सुरक्षा से निपटने हेतु अंतर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौतों पर हस्ताक्षर किए जाते हैं। इनके माध्यम से हस्ताक्षरित राष्ट्र अपने आपको प्रतिबन्धित करते हैं। इन समझौतों के उल्लंघन करने की दिशा में ऐसे राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही भी की जा सकती है। अन्ततः अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के माध्यम से राज्यों के विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही के अलावा विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध, राजनयिक तिरस्कार व इस प्रकार के अन्य कदम भी उठाये जा सकते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का स्वरूप व दण्ड देने की क्षमता कितनी भी कम हो, परन्तु यह काफी सीमा तक उपरोक्त तरीकों से शक्ति पर अंकुश लगाने में सक्षम है। शायद यही कारण है कि जब राष्ट्र शक्ति का नग्न प्रदर्शन भी करते हैं तो अपनी उस कार्यवाही को अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के अंतर्गत स्पष्टीकरण देते हुए उसे न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की शक्ति पर सीमा लगाने हेतु उपयोगिता है।

3.2.5.2 अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता भी शक्ति पर कुछ हद तक सीमाएं लगाती है। मुख्य रूप से देखें तो यह कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता से अभिप्राय है कि राष्ट्र के उन कुछ मूल्यों का पालन करते हुए विश्व में वहीं कार्य करना जो करने योग्य हों। परन्तु इसकी परिभाषा व अस्तित्व को लेकर विद्वानों में परस्पर मतभेद व्याप्त हैं इसमें कौन-कौन से मूल्यों का समावेश होना चाहिए इस पर भी राष्ट्रों में सर्वसम्मति का अभाव है। इतना भी सुनिश्चित है कि व्यक्ति की नैतिकता व राष्ट्र की नैतिकता दोनों अलग-अलग होती हैं। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता क्या है? अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता उन मानदण्डों व मूल्यों का संग्रह है जिनका दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार करते समय पालन करना राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय समुदाय अपरिहार्य समझते हैं।

यद्यपि यथार्थवादियों एवं आदर्शवादियों के बीच नैतिकता को लेकर विपरित मत हैं। परन्तु नैतिकता से सम्बन्धित तीन महत्त्वपूर्ण पहलू हैं – प्रथम, यदि आन्तरिक रूप से राज्य नैतिक मूल्यों पर चल सकते हैं तो राष्ट्र सन्दर्भों में भी इसका पालन कर सकते हैं। द्वितीय, राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति भी वृहत विश्व/मानव जाति के संदर्भ में ही कर सकता है। तृतीय, किसी भी प्रकार के अत्याचारों के विरोध पर तो सहमति हो सकती है।

इन तीन महत्त्वपूर्ण पहलुओं के साथ-साथ कई विद्वानों का मत है कि विभिन्न बाध्यताओं के स्वरूप भी अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का अस्तित्व बना रहता है। ये बाध्यताएं हैं – 1. निर्णायकों की अंतर्रात्मा की; 2. अंतर्राष्ट्रीय कानून की; 3. विश्व जनमत की; 4. अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की आदि।

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता पर असहमति, इसकी कमजोरी, यथार्थवादियों द्वारा इसकी अस्वीकृति आदि के उपरान्त भी हम कह सकते हैं कि अपने सीमित सन्दर्भ में यह निम्न प्रकार से प्रभावी होती है –

1. आज अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में विवादों के समाधान हेतु युद्ध के विकल्प की निंदा की गई है। अतः समस्याओं को राजनयिक रूप से हल करने के प्रयास को उचित माना गया है। इसलिए यदि किसी स्थिति में युद्ध भी करना पड़े तो अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का समर्थन लेना अनिवार्य है। अतः या तो इस डर से राज्य युद्ध के विकल्प का प्रयोग ही नहीं करते, अथवा न्यायोचित युद्ध की परिकल्पना स्थापित करने की कोशिश करते हैं। अतः आज युद्ध व शांति के मुद्दों पर अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के स्वरूप/समर्थन को भी ध्यान में रखा जाता है।
2. आज राज्य को उचित या अनुचित का निर्देशन भी अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के माध्यम से प्राप्त होता है। प्रत्येक राष्ट्र यह समझता है कि उसकी कार्यवाही को जब तक विश्व जनमत का समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता तब तक वह उसे अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता हेतु सही न सिद्ध कर दें। उदाहरण के रूप में अमेरिका द्वारा 1990 व

2003 ईराक के विरुद्ध की गई कार्यवाहियों बेशक अमेरिका के राष्ट्रहितों के अनुरूप की गईं लेकिन उसने दोनों समय संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों का सहारा लिया अथवा बहुराष्ट्रीय कार्यवाही का स्वरूप देने की कोशिश की। शायद इसके पीछे उसके द्वारा अपनी कार्यवाही को अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के अनुरूप प्रमाणित करने का प्रयास रहा है।

3. कई बार अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का पालन इसलिए नहीं होता कि इसके पीछे कोई बाध्यकारी स्वरूप जुड़ा हुआ है, बल्कि यह इसलिए भी की जाती है क्योंकि यदि विश्व रहेगा तब ही राष्ट्रों के हित पूर्ण होंगे, यदि ऐसा नहीं होगा तो विपरीत स्थिति होगी। वर्तमान समय में शस्त्रों के आधुनिकतम स्वरूप से युद्ध केवल दो राष्ट्रों के बीच आपसी संघर्ष तक ही सीमित नहीं होती, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के विनाश तक कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, परमाणु हथियारों के संदर्भ में अब जीत-हार नहीं होगी बल्कि “परस्पर तय विनाश” निश्चित है। अतः अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को आज नैतिकता के दायरे में ही संयोजन करना महत्त्वपूर्ण हो गया है।
4. अन्ततः वर्तमान विश्व में सभी क्षेत्रों में राष्ट्रों के मध्य तीव्र प्रतिस्पर्धा विद्यमान है। राजनैतिक, आर्थिक, सामारिक आदि सभी क्षेत्रों में राष्ट्र एक दूसरों से संघर्ष व निरन्तर सर्वोच्चता प्राप्त करने में लगे रहते हैं। सभी राष्ट्र शक्ति संचय की दृष्टि से अधिक से अधिक शक्तिशाली बनने हेतु प्रयासरत हैं। ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं नैतिकता के द्वारा ही विश्व व्यवस्था को सुनिश्चित व सुव्यवस्थित ढंग से रखा जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो अराजकता व शक्ति हेतु अन्धे संघर्ष की स्थिति बन जायेगी जो किसी भी राष्ट्र हेतु उचित नहीं होगी।

इस प्रकार यह सत्य है कि अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती जो इसे लागू कर सके। यथार्थवादी तो इस शक्ति संघर्ष के युग में तो इसके अस्तित्व को ही नकारते हैं। इसके साथ-साथ कुछ विद्वानों का मानना है कि इसका अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में महत्त्व गिरता जा रहा है। कम होता जा रहा है। लेकिन युद्ध के भयानकता, हथियारों के विनाशकारी स्वरूप, राज्यों के मध्य बढ़ती अंतर्निर्भरता आदि के कारण चाहे इसके प्रभाव में कमी भी हो, परन्तु इसका अस्तित्व अवश्य बना रहेगा। वास्तविकता में ना भी करें, लेकिन सिद्धान्त रूप में सभी राष्ट्र अपने निर्णयों को अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के अनुरूप सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

3.2.5.3 विश्व जनमत

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व जनमत की अवधारणा एक अस्पष्ट अवधारणा है। इसके अतिरिक्त यह मूर्त रूप की बजाय मुख्यतया अनुभव की स्थिति है। राष्ट्रीय जनमत की तुलना में यह कम विकसित तथा अविकसित अवस्था में है। फिर भी इसका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कई परिस्थितियों में देखने को मिलता है। परन्तु इसके प्रभाव को जानने से पूर्व इसे परिभाषित करने व इसके स्वरूप के बारे में जानकारी अति महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए मोरगेन्थाऊ का मानना है कि विश्व जनमत राष्ट्रोंपरि होता है तथा यह विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को कुछ मूल अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सर्वसम्मति से एकीकृत करता है।

परन्तु यह अवधारणा स्वचलित नहीं है तथा भ्रामक भी है। अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा जनमत की अभिव्यक्ति अपने राष्ट्रहितों के द्वारा प्रभावित होती है। इसीलिए कई विषयों पर एक राष्ट्र एक प्रकार की राय देता है। तो दूसरा राष्ट्र ठीक उसके विपरीत। ऐसी स्थिति में सत्य क्या है यह जानना भ्रामक हो जाता है। तीसरी राष्ट्र भी अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप ही उन मुद्दों पर अपनी राय कायम करता है। इसीलिए कई विषयों पर विश्व जनमत संगठित हो जाता है तो कई अन्य विषयों पर ऐसा नहीं हो पाता।

मोरगेन्थाऊ के अनुसार इस स्थिति हेतु तीन कारण उत्तरदायी होते हैं जो निम्न प्रकार से हैं –

1. सर्वप्रथम, विश्व में मनोवैज्ञानिक एकता का अभाव है। उसका मानना है कि सभी तीन बातें – स्वतन्त्रता, शान्ति व व्यवस्था को अनिवार्य मानते हैं। ये तीनों बुनियादी बातें विश्व जनमत का मूल आधार है तथा विश्व जनमत का प्रतीक भी है। आमतौर पर सभी राष्ट्र इससे सहमत हैं लेकिन नैतिक व राजनैतिक मूल्यांकनों में सभी विभिन्न राय रखते हैं। इस प्रकार के निर्णयों में परिस्थितियों की भी भूमिका होती है। इस प्रकार के राजनैतिक मतभेदों के कारण एक समान विश्व जनमत तैयार नहीं हो पाता।
2. द्वितीय, विश्व औद्योगिकरण के विकास के कारण भी एकीकरण की संदिग्धता बनी रहती है। यद्यपि औद्योगिक विकास, विशेषकर सुचना प्रसार के क्षेत्र में विकास, के माध्यम से राज्य नजदीक आ रहे हैं। कुछ लोगों का मानना है कि “विश्व सरकार की ओर अग्रसर है। लेकिन इसके बाद भी राजनैतिक रूप से आज भी राष्ट्रीय हितों की प्रधानता को नकारा नहीं जा सकता। कई राष्ट्रों के संदर्भ में आर्थिक व व्यापारिक हित इतने सशक्त हो जाते हैं कि राज्यों के अन्दर एक आम सहमति नहीं विकसित होती।
3. अन्ततः राज्यों के बहुआयामी विकास के बाद भी आज भी राष्ट्रीय हित ही सर्वोत्तम समझे जाते हैं। राष्ट्रीय हित इतने प्रभावी माने जाते हैं कि उनके लिए आज भी राज्य युद्ध लड़ने को तैयार हैं। आज भी राष्ट्र ‘अंतर्राष्ट्रीय’ या ‘विश्व’ राजनीति के हितों के बजाय अपने राष्ट्रीय हितों के लिए ज्यादा सजग हैं। अतः इसके कारण भी विश्व जनमत के निर्माण में व्यवधान पड़ता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों कारणों से विश्व जनमत के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कठिनाईया आ रही हैं।

इस अवधारणा के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह है कि क्या विश्व जनमत वास्तव में होता है? जिनका मानना है कि यह जनमत नहीं है उनके तर्क हैं कि – विश्व समस्याओं का समाधान विश्व की बड़ी शक्तियों की सर्वसम्मति पर ही निर्भर होता है; विकासशील देशों में पिछड़ेपन के कारण यह सम्भव नहीं कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर बड़ी शक्तियां ही अधिक प्रभावी होती हैं, मानवाधिकारों की समस्या सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है; तथा, शीतयुद्धोत्तर युग में एक-शक्ति के वर्चस्व स्थापित करने के कारण अब यह और अधिक कठिन हो गया है।

परन्तु दूसरी ओर कई नई परिस्थितियों के घटनाक्रम से विश्व जनमत की उपस्थिति दर्ज होती है। जैसे – संचार साधनों के द्वारा विश्व का जुड़ना, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा इन्हें बढ़ावा देना, युद्ध विरोधी, मानवाधिकार व अन्य शान्ति संगठनों द्वारा से प्रोत्साहन देना, राज्यों के बीच विभिन्न प्रकार के समझौतों का होना, विभिन्न संकट कालीन परिस्थितियों में एक दूसरे राज्यों की मदद करना आदि।

इस प्रकार विभिन्न अवरोधक कारणों व नकारात्मक अस्तित्व के बाद भी यह सत्य है कि विश्व जनमत है तथा इसके द्वारा निम्न रूप से शक्ति पर अंकुश रखा जाता है।

1. सर्वप्रथम, शक्ति के विकास के साथ राज्य प्रायः अपने साम्राज्य विस्तार में अग्रसर होते हैं। इसके लिए कई बार वह युद्धों का सहारा भी लेते हैं। लेकिन युद्ध के माध्यम से शक्ति प्रदर्शन पर आमतौर पर सभी राज्य उसकी निन्दा करते हैं तथा विरोध जताते हैं। इसी विश्व जनमत के कारण शायद बड़ी शक्तियां प्राय युद्ध नहीं करती।
2. द्वितीय, वर्तमान युग में हथियारों की होड़, अपने चरम पर पहुंची हुई है। इस शस्त्र विकास में बहुत से विनाशाकारी शस्त्र भी शामिल हैं। इस शस्त्रों की विध्वंसक क्षमता को देखते हुए सारा विश्व जनमत हमेशा निःशस्त्रीकरण पर बल देता है ताकि विश्व को विनाश के कगार पर जाने से रोका जा सके। शायद इसी

कारण से समय-समय पर राष्ट्रों के मध्य द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए हैं।

3. वर्तमान युग में यह सत्य है कि चाहे कितना भी विकसित देश हो या विकासशील देश, परन्तु वे सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर नहीं हैं। अर्थात् सभी राष्ट्र आज परस्पर अन्तर्निर्भर हैं। इस परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान की बाध्यता के कारण राष्ट्रों के मध्य आर्थिक संबंध, समानता तथा न्याय पर आधारित हो इसके लिए भी समय-समय पर जनमत की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं।
4. किसी भी देश द्वारा आक्रामक व अत्याचारी विदेश नीति के अपनाने पर हमेशा जनमत ने इसका विरोध किया है। सम्पूर्ण 20वीं शताब्दी में जब भी किसी राष्ट्र ने दूसरे राज्यों के साथ हस्तक्षेप की नीति अपनाई है तभी राष्ट्रों ने मिलकर उसका विरोध व्यक्त किया है।

अतः सीमित ही सही परन्तु जब-जब विश्व में शांति व सुरक्षा को खतरा होता है या राज्य के अस्तित्व को कोई चोट पहुंचती है या विश्व विनाश के कगार पर पहुंचता है तब-तब विश्व जनमत की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान सन्दर्भ में विश्व सभी क्षेत्रों में भूमण्डलीकरण की ओर अग्रसर है इसीलिए अनुमान है इस राज्यों के मध्य बढ़ते सहयोग से विश्व जनमत के विकास को और बल मिलेगा।

3.6 सारांश

इस अध्याय में मूलतः राष्ट्रीय हित की परिभाषा एवं उसके अभिवृद्धि के साधनों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ-साथ विचारधारा के विभिन्न स्वरूपों का भी वर्णन किया गया है। इन दोनों अवधारणाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध विदेश नीति एवं राजनय से है। इसीलिए इस अध्याय में विदेश नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पहलुओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्याय राष्ट्रीय शक्ति के सभी पहलुओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत है। शक्ति को परिभाषित कर उसके प्रमुख तत्त्वों का वर्णात्मक मूल्यांकन दिया गया है। इसके अतिरिक्त शक्ति प्रबन्धन के तरीकों का आलोचनात्मक वर्णन प्रस्तुत कर उनकी कार्य शैली से विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति से अराजकता न फैले इसके उपचार हेतु शक्ति पर सीमा अंकित करने वाली अवधारणाओं का वर्णन भी दिया गया है। शक्ति के प्रयोग सम्बन्धित राष्ट्र हित एवं विचारधारा की भूमिका का भी स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति से जुड़े सभी आयामों का सुस्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

3.7 प्रश्नावली

1. राष्ट्रीय शक्ति क्या है? इसकी मूल मान्यताओं व तत्त्वों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. राष्ट्रीय शक्ति को परिभाषित करते हुए इसके मूल्यांकन की समस्या का वर्णन कीजिए।
3. शक्ति संतुलन से क्या अभिप्राय है। इसके विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिए।
4. समुहिक सुरक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक स्थिति का आलोचनात्मक वर्णन करें।
5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राष्ट्रीय शक्ति पर अकुंश लगाने की भूमिका का वर्णन करें।
6. बताइए अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता किस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति को सीमित कर सकती है?
7. विश्व जनमत द्वारा राष्ट्रीय शक्ति को किस प्रकार से सीमांकन किया जा सकता है।

3.8 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—4
राष्ट्रीय हित, विचारधारा, विदेश नीति एवं राजनय

अध्याय का ढांचा

4.1 प्रस्तावना

4.1.1 अध्याय के उद्देश्य

4.2 परिभाषा एवं प्रकार

4.3 अभिवृद्धि के साधन

4.3.1 राजनय

4.3.2 प्रचार

4.3.3 राजनैतिक युद्ध

4.3.4 आर्थिक साधन

4.3.5 साम्राज्यवाद

4.3.6 उपनिवेशवाद एवं नव-उपनिवेशवाद

4.3.7 युद्ध

4.4 विचार धारा

4.4.1 यथास्थिति की विचारधारा

4.4.2 साम्राज्यवाद की विचारधारा

4.4.3 अस्पष्ट विचारधारा

4.5 विदेश नीति एवं राजनय

4.5.1 विदेश नीति

4.5.2 राजनय

4.5.3 परस्पर सम्बन्ध

4.6 सारांश

4.7 प्रश्नावली

4.8 पाठ्य सामग्री

4.1 प्रस्तावना

प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी भूमिका अपने राष्ट्र हितों के अनुरूप निभाता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मूलतः राष्ट्रों के मध्य इन्हीं हितों की प्राप्ति हेतु संघर्ष व सहयोग की कहानी है। इन हितों के निर्धारण में अन्य कारकों के साथ विचारधारा की भी एक अहम भूमिका होती है। विचारधारा राष्ट्रों हेतु एक मार्ग दर्शन अथवा अन्तिम गन्तव्य भी तय करती है। यह कई बार विदेश नीति के कार्यान्वयन हेतु एक ढांचा भी प्रस्तुत करती है। विदेश नीति का निर्धारण राष्ट्र के आन्तरिक तत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश तय करते है। विदेश नीति के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व राजनय को होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित, विचारधारा, विदेश नीति एवं राजनय की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसीलिए इस अध्याय में इन अवधारणाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

4.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को राष्ट्रीय हित के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराना है। इसके साथ-साथ यह भी जानकारी प्रदान करना है कि किस प्रकार राष्ट्रीय हित राष्ट्रों की विदेश नीति के संचालन का केन्द्र बिन्दु होते है। इन्हीं हितों की पूर्ति हेतु राज्य दूसरे राज्यों से संघर्ष अथवा सहयोग विकसित करते है। यहां यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि राष्ट्र हितों को कई बार विचारधारा के ढांचे के अनुरूप तय किया जाता है। विचारधारा राष्ट्रों के लिए मार्ग दर्शक का कार्य करती है। विदेश नीति के निर्धारण के साथ-साथ उसका कार्यान्वयन भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से राजनय की कार्यशैली की जानकारी अति महत्वपूर्ण होती है। उपरोक्त सभी मुद्दों से विद्यार्थियों को अवगत कराना इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है।

4.2 परिभाषा एवं प्रकार

राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि राज्यों के आपसी संबंधों को बनाने में इनकी विशेष भूमिका होती है। किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति मूलतः राष्ट्रीय हितों पर ही आधारित होती है, अतः उसकी सफलताओं एवं असफलताओं का मूल्यांकन भी राष्ट्रीय हितों में परिवर्तन लाता है जिसके परिणामस्वरूप विदेश नीति भी बदलाव के दौर से गुजरती है।

राष्ट्रीय हितों सम्बन्धित अन्य जानकारी से पूर्व इन्हें परिभाषित करना अनिवार्य है जो इस प्रकार से हैं –

1. **चार्ल्स लर्च व अब्दुल सईद** – राष्ट्रीय हित व्यापक, दीर्घकालीन एवं सतत् उद्देश्यों पर आधारित होते हैं जिनकी प्राप्ति हेतु राज्य, राष्ट्र व सरकार में सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं।
2. **वनरन वॉन डाईक** – राष्ट्रीय हित की रक्षा या उपलब्धि राज्य परस्पर मुकाबले में करना चाहते हैं।

राष्ट्रीय हित की परिभाषा ही नहीं बल्कि इसके उद्देश्यों को लेकर भी विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें विदेश नीति के उद्देश्यों से जुड़ा मानते हैं तो कुछ इसके मूलभूत मूल्यों से जुड़ा मानते हैं। पहली श्रेणी के विद्वानों के अनुसार यह स्थाई, अपरिवर्तित तथा शक्ति से जुड़ी अवधारणा है, लेकिन दूसरे इन्हें राष्ट्र के कल्याण, राजनैतिक विश्वास के संरक्षण, सीमाओं से सुरक्षा क्षेत्रीय अखण्डता व राष्ट्रीय जीवन पद्धति से जुड़ा मानते हैं। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि राष्ट्रीय हित व्यापक सन्दर्भ के रूप में लिए गए हैं।

विभिन्न विद्वानों ने राष्ट्रीय हितों को कई श्रेणियों में बांटा है। उदाहरण स्वरूप, विद्वान इन्हें प्रथम कोटि के हित, गौण हित, स्थाई हित, अस्थायी हित, सामान्य हित, विशिष्ट हित आदि में वर्गीकृत करते हैं। लेकिन मूलतः इन्हें दो प्रमुख श्रेणियों में रखना ज्यादा स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करता है – (क) प्रमुख हित; (ख) गौण हित।

(क) जहां तक प्रमुख हितों की बात है प्रत्येक राष्ट्र तीन प्रमुख हितों के आधार पर अपनी विदेश नीति के उद्देश्य तय करते है। ये तीन प्रमुख हित हैं (1) राष्ट्रीय सुरक्षा/अखण्डता; (2) आर्थिक विकास; (3) अनुकूल विश्व व्यवस्था।

प्रत्येक राष्ट्र के प्रमुख उद्देश्यों में इन तीनों कारकों का होना इसलिए आवश्यक है कि प्रथम पर राज्य का मूल आधार/अस्तित्व टिका, हुआ है। दूसरे पर उसका सुचारु विकास तथा तीसरे का महत्त्व इसलिए है कि इन हितों की पूर्ति एक विशिष्ट विश्व परिवेश में ही सम्भव है, एकान्तवास में नहीं। अतः कोई भी राष्ट्र इन तीन प्रमुख हितों के सन्दर्भ में ही अपनी विदेश नीति या राज्यों के साथ पारस्परिक संबंध स्थापित करता है।

(ख) गौण हित प्रमुख हितों की भांति महत्त्वपूर्ण तो नहीं होते लेकिन किसी भी राष्ट्र को सत्ता में बनाये रखने हेतु आवश्यक होते हैं। इन हितों के लिए राष्ट्र अपना सर्वस्य या युद्धों तक जाने के लिए तैयार नहीं होता, परन्तु फिर भी इनकी पूर्ति हेतु प्रयास करता है। इन हितों के माध्यम से राष्ट्र अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, विरासत आदि द्वारा स्थापित आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त, अपने विदेशों में स्थापित कार्यों को पूर्ण करने की कोशिश करता है। इनके माध्यम से विदेशों में बसे अपने नागरिकों के हितों की पूर्ति के प्रयास भी करता है। अतः इन हितों की पूर्ति हेतु भी राष्ट्र काफी प्रयास करते हैं।

परन्तु जैसा उपरोक्त कहा है कि कुल मिलाकर राष्ट्रहित गतिशील होते हैं, स्थाई नहीं। इसीलिए जितने ज्यादा से ज्यादा हो सकें उतने सम्भावित हितों की पूर्ति हेतु राष्ट्र प्रयासरत रहा है।

4.3 अभिवृद्धि के साधन

राष्ट्रीय हितों के संदर्भ में जो भी बातें कही जाए, अन्ततः सत्य यह है कि सभी राष्ट्र इनकी अभिवृद्धि हेतु भरसक प्रयत्न करते हैं। इस संदर्भ में राष्ट्र विभिन्न साधनों का उपयोग करते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं –

4.3.1 राजनय

किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का कार्यान्वयन राजनय के माध्यम से ही होता है। राजनय अपने आप में नैतिक अनैतिक नहीं होता बल्कि अपने राष्ट्र हितों के अनुरूप होता है। न ही यह एक वस्तुनिष्ठ स्थिति है, बल्कि यह व्यक्तिपरक व्यवस्था है जिसका आकलन प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने दृष्टिकोण के अंतर्गत करता है। राजनय अपने देश के विदेशों में स्थापित दूतावासों व वाणिज्य केन्द्रों के अतिरिक्त विदेश मंत्रालय, राजनैतिक नेतृत्व व कई अन्य व्यक्तियों व संस्थाओं की भागीदारी के अनुरूप कार्यान्वित होता है। राजनय द्वि-पक्षीय एवं बहुपक्षीय दोनों प्रकार के होते हैं। राजनय के स्वरूप भी स्थितियों के अनुरूप नये-नये सन्दर्भों में प्रस्तुत होते हैं।

4.3.2 प्रचार

प्रचार भी राष्ट्रीय हितों में वृद्धि एवं पूर्ति का महत्त्वपूर्ण तरीका है। प्रचार दूसरे राष्ट्रों के तर्कों को गलत सिद्ध करने तथा अपनी बात को फैलाने का हमेशा तरीका रहा है, लेकिन 20वीं शताब्दी में ही प्रचार को एक मुख्य साधन के रूप में उपयोग किया गया है। इसका अति स्पष्ट रूप दो विश्व युद्धों के बीच के काल में देखने को मिला जब विभिन्न विचारधाराओं – साम्यवाद, नाजीवाद, फासिज्म – के माध्यमों से राष्ट्रों ने अपनी शक्ति स्थापित एवं संवर्धन हेतु इनका उपयोग किया। शीतयुद्ध काल में भी दोनों महाशक्तियों ने अपने-अपने वर्चस्व को बनाने हेतु राष्ट्रों के मध्य साम्यवादी व पूंजीवादी विकास के प्रतिमानों को अपनाने हेतु प्रतिस्पर्धा पैदा की। शीतयुद्धोत्तर युग में भी एक मात्र शक्ति द्वारा भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, मुक्त बाजार व्यवस्था आदि केवल राष्ट्रों के पास बचे विकल्प के रूप में तथा अपनी विदेश नीति की हस्तक्षेप की नीतियों को न्यायोचित स्थापित करने हेतु अत्यधिक प्रचार किया जा रहा है। इस प्रकार दो प्रमुख कारणों से पिछली शताब्दी में प्रचार का काफी प्रयोग हुआ है। पहला कारण रहा है संचार साधनों में आई क्रांति जिसने प्रचार को बहुत शीघ्रता, विश्वसनीय व आसानी से उपलब्ध करा दिया। दूसरा शायद अति आधुनिकतम हथियारों की उत्पत्ति से बल प्रयोग के विकल्प की समाप्ति ने भी इस साधन को अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। कारण जो भी रहे हो परन्तु वर्तमान में उपलब्ध संचार क्रांति के तरीकों ने प्रचार को विदेश नीति के प्रभावी तन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

4.3.3 राजनैतिक युद्ध

राजनैतिक युद्ध भी राष्ट्रहितों की अभिवृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। यह न तो युद्ध है परन्तु न ही शान्ति। इसके द्वारा राजनय के माध्यम से राज्यों के मध्य दण्डात्मक स्थिति बनाया या आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना जिससे विरोधियों पर दबाव की स्थिति बनी रहती है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न तरीकों द्वारा राजनैतिक युद्ध की स्थिति पैदा की जाती हैं –

1. किसी समुदाय को भ्रमित प्रचार द्वारा विभाजित करना;
2. विरोधी राज्य में अल्पसंख्यकों को समर्थन देकर राज्य में राजनैतिक अस्थिरता पैदा करना;
3. दूसरे राज्यों के महत्त्वपूर्ण उद्योगों, संचार केन्द्रों, यातायात के साधनों आदि में तोड़-फोड़ की कार्यवाही द्वारा व्यवधान उत्पन्न करना;
4. राजनेताओं की हत्या कराकर जन साधारण का मनोबल गिराना;
5. सरकार का तख्ता पलटने वालों को सक्रिय समर्थन देना
6. सीमा पार से आतंकवादी गतिविधियां चलाना आदि।

4.3.4 आर्थिक साधन

वर्तमान युग अन्तःनिर्भरता का युग है। प्रत्येक राष्ट्र, कितना ही शक्तिशाली हो या कितना ही छोटा हो, सभी को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। कोई भी सम्पूर्ण रूप से आत्म निर्भर नहीं है। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु वे राष्ट्र अपने संसाधनों के बल पर अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करते हैं। इन्हीं संसाधनों के प्रयोग से बड़ी शक्तियां विदेशों में सैन्य अड्डे स्थापित करने; विकासशील देशों में सत्ता परिवर्तन, सस्ता कच्चा माल प्राप्त करने, कमजोर राष्ट्रों की नीतियों को प्रभावित करने, राज्यों की मुद्रा के अवमूल्यन करने; व्यापार की शर्तें तय करने आदि में सफलता प्राप्त कर लेती हैं। इस संदर्भ में आर्थिक रूप से शक्तिशाली राष्ट्र अन्य देशों के प्रति दो प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं – मुख्य आर्थिक तन्त्र तथा गौण आर्थिक तंत्र। मुख्य आर्थिक तंत्र का प्रयोग निम्न तरीकों से किया जाता है – (1) आयात शुल्क लगाना; (2) अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों को अपने पक्ष में रखना; (3) कम मूल्य पर निर्यात करना; (4) कर्ज या अनुदान देकर; (5) विदेशी सहायता प्रदान करना आदि। गौण आर्थिक तन्त्र के आधार पर प्रयुक्त होने वाली आर्थिक तंत्र के अंतर्गत – (1) रियासत; (2) बहिष्कार; (3) नाकेबन्दी। इन्हीं आर्थिक साधनों के द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि करते हैं।

4.3.5 साम्राज्यवाद

1945 से पूर्व अत्याधिक बड़ी शक्तियों ने साम्राज्यवाद का सहारा लेकर अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि की थी। सामान्य तौर पर जब कोई राष्ट्र दूसरे राज्य की सीमा व जनता पर जबरदस्ती कब्जा कर लें तो उसे साम्राज्यवाद कहते हैं। इसकी व्याख्या हेतु अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। साम्राज्यवाद के स्वरूप को कई रूपों में देखा जा सकता है। यह बड़े राज्यों द्वारा कभी आर्थिक कारणों, यथास्थिति बनाये रखने, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा आदि कई कारणों से प्रेरित होती है। साम्राज्यवाद की नीतियों के द्वारा राष्ट्रों को आर्थिक लाभ, शक्ति निर्माण तथा अविकसित देशों के कल्याण आदि प्राप्त होते हैं। इससे शक्तियों के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाए तो कुछ चन्द राष्ट्रों के हितों के पूर्ति हेतु साम्राज्यवाद से ज्यादातर राष्ट्रों का शोषण, अन्याय, पिछड़ापन, गरीबी, भुखमरी आदि बढ़ती है। इसलिए 1945 के बाद के वर्षों में क्षेत्रीय साम्राज्यवाद समाप्त प्राय हो गया है।

4.3.6 उपनिवेशवाद एवं नव उपनिवेशवाद

उपनिवेशवाद के माध्यम से 18वीं 19वीं शताब्दी में यूरोप की बड़ी ताकतों ने तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों पर राज्य किया है। इसके अंतर्गत विदेशी राज्यों पर बाह्य शक्तियों का शासन चलाया जाता रहा है। जो स्थानीय लोगों के सभी विषयों पर अपना नियंत्रण रखते हैं। पूरी राजनैतिक व्यवस्था उनके हाथ में होती थी। सरकार विदेशी ताकतों द्वारा ही चलाई जाती थी। भू-भाग पर भी पूर्ण नियंत्रण बाह्य शक्तियों का ही होता था। स्थानीय लोगों की स्वतन्त्रताएं भी उन्हीं के इशारे पर चलती थी। परन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन के लम्बे संघर्ष ने 1950 व 1960 के दशकों में सभी को आजाद करा दिया तथा उपनिवेशी व्यवस्था का प्रायः अन्त हो गया।

1945 के बाद उपनिवेशवाद का स्थान 'नव' उपनिवेशवाद ने ग्रहण कर लिया। अब क्षेत्रीय व राजनैतिक रूप से तो राज्य स्वतन्त्र हो गए, लेकिन आर्थिक रूप से अभी भी गुलाम बने रहे। आर्थिक संसाधनों की दृष्टि से 30 प्रतिशत जनसंख्या 70 प्रतिशत संसाधनों का उपयोग करती है तथा 70 प्रतिशत जनता मात्र 30 प्रतिशत संसाधनों का प्रयोग करती है। आज भी कच्चे माल की कीमतें, व्यापार की शर्तें, आर्थिक आदान-प्रदान, तकनीकी हस्तांतरण आदि सभी तीसरी दुनिया के देशों के विरुद्ध हैं। अब इन राष्ट्रों का शोषण अप्रत्यक्ष रूप से होने लगा है। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, आर्थिक सहायता, पूंजीनिवेश कच्चे माल का आयात व तैयार-शुद्ध माल का निर्यात, दायम दर्जे का तकनीकी हस्तांतरण आदि के माध्यम से विकसित देश आज भी विकासशील राज्य का शोषण कर रहे हैं। विभिन्न गैर जरूरी मुद्दों जैसे बाल श्रम, पर्यावरण, मानवाधिकार आदि के नाम पर आज भी इनके साथ व्यापारिक व अन्य आर्थिक संबंधों में भेदभाव किया जाता है। अतः इन आर्थिक लाभों के कारण शक्तिशाली राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति एवं संवर्धन कर रहे हैं।

4.3.7 युद्ध

युद्ध को भी अन्तिम विकल्प के रूप में राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन हेतु प्रयोग कर लेते हैं। युद्धों हेतु विभिन्न कारण व इसके विभिन्न स्वरूप होते हैं। परन्तु वर्तमान युग में हथियारों की मारक क्षमता एवं उनके विध्वंसक स्वरूप के कारण राष्ट्र युद्धों के प्रयोग से बचते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि युद्धों का त्याग कर दिया गया। बड़ी शक्तियां आज भी अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु इसके प्रयोग से नहीं चूकती हैं। उदाहरण के रूप में वर्तमान समय में भी अमेरिका ने अफगानिस्तान व ईराक पर युद्ध करके अपनी एकमात्र वर्चस्व वाली महाशक्ति होने का परिचय दिया। अतः उपरोक्त साधनों के माध्यम से शक्तियां अपने राष्ट्रीय हितों में वृद्धि करती रहती हैं। यह शक्ति संवर्द्धन शान्तिपूर्ण तरीकों से लेकर युद्ध तक के अनेक निर्धारण तत्त्वों के द्वारा किया जाता है। लेकिन वर्तमान अन्तर्निर्भरता के युग में कुछ राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धन अन्य राज्यों की कीमत पर होता। इसीलिए राष्ट्रों को अपनी विदेश नीति का आधार बनाते समय दूसरे राष्ट्रों के हितों को भी देखना चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रीय हितों के उपयोग से विश्व में दूरगामी व निरन्तर शांति व सुरक्षा की स्थापना हो सकती है।

4.4 विचारधारा

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा का विशेष महत्त्व है। विचारधाराओं के आधार पर विश्व शांति व अंतर्राष्ट्रीय युद्धों की स्थिति होती है। यह शक्ति का अमूर्त रूप होते हुए भी राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रमुख तत्व है। सामान्य रूप से विचारधारा दो अर्थों में मानी जाती हैं – एक, विचारधारा को विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय है जो एक सुनिश्चित विश्व दृष्टि पर आधारित हो और अपने आप को पूर्ण माने। दो, विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्यों को छिपाने का आवरण कहा जा सकता है।

20वीं शताब्दी में विभिन्न विचारधाराओं का उदय एवं अन्त देखने को मिला। इनमें सबसे प्रमुख विचारधाराएं रही – साम्यवाद; नाजीवाद, फासिस्टवाद, साम्राज्यवाद, नव- उपनिवेशवाद आदि। एक सन्दर्भ में लोकतन्त्रवाद तथा

भूमण्डलीकरण को भी प्रमुख विचारधारा माना जा सकता है। परन्तु मोरगेन्थाऊ का मानना है कि मुख्य रूप से इन विचारधाराओं को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है

4.4.1 यथास्थिति की विचारधारा

यथास्थिति का अर्थ है किसी प्रकार के परिवर्तन से इंकार करते हुए विश्वव्यवस्था का उसी रूप में चलते रहना। इस स्थिति का समर्थन वही राष्ट्र करेंगे जिन्हें अधिक सम्मानपूर्वक या मजबूत स्थिति प्राप्त हुई हो। जिन राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय शक्ति वितरण में नुकसान हुआ हो वे राष्ट्र हमेशा यथास्थिति को बदलने की बात कहते हैं। यह स्थिति विशेषकर प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों के उपरांत हुए सत्ता विभाजन के बाद अति स्पष्ट रूप में उजागर हुई। इन युद्धों के उपरान्त हुई सन्धियों व समझौतों से लाभांशित विजित राष्ट्रों ने हमेशा यथास्थिति बनाए रखने पर जोर दिया है। तो इनसे हुए नुकसान वाले हारे हुए राष्ट्रों ने हमेशा इस स्थिति को चुनौती दी है। परन्तु इस स्थिति को बनाए रखने हेतु विजित राष्ट्र नई विचारधाराओं जैसे शान्ति की विचारधारा एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून की विचारधारा का सृजन कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त, राष्ट्र संघ व संयुक्त राष्ट्र जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना इन्हीं राष्ट्रों की पहल का परिणाम है। इस पहल के माध्यम से वे अपनी स्थिति को बरकरार रखना चाहते हैं अतः लाभ की स्थिति वाले राष्ट्र हमेशा ही यथास्थिति की विचारधारा का समर्थन करते हैं तो इससे निराश देश हमेशा इन्हें बदलने हेतु संघर्षरत रहते हैं।

4.4.2 साम्राज्यवाद की विचारधारा

साम्राज्यवाद की विचारधारा हमेशा राज्यों द्वारा अपनी सीमाओं के विस्तार हेतु अपनाई जाती है। यह यथास्थिति के बिल्कुल विपरीत विचारधारा है इसके कार्यान्वयन हेतु शक्ति के सीधे उपयोग की बजाय इन राष्ट्रों को किसी आवरण की आवश्यकता होती है। बाह्य तौर पर इस प्रकार के औचित्य के पीछे अन्तिम उद्देश्य शक्ति विस्तार व नियंत्रण करना है। कई बार इस प्रकार के शक्ति प्रयोग के विभिन्न बहाने बनाये जाते हैं जैसे – “श्वेत लोगों का बोझ,” “राष्ट्रीय कर्तव्य, विनाशकारी हथियारों से बचाने हेतु आदि। परन्तु इन सब पहल का अन्तिम उद्देश्य राज्यों द्वारा अपनी सीमाओं/प्रभावों का विस्तार करना होता है। अपने कार्यों को सिद्ध करने हेतु विभिन्न प्रचलित सिद्धान्तों का सहारा लिया जाता है या उनकी नई व्याख्याएं प्रस्तुत की जाती है।

4.4.3 अस्पष्ट विचारधारा

कुछ विचारधाराओं को मोरगेन्थाऊ “अस्पष्ट विचारधाराओं” की श्रेणी में रखता है क्योंकि ये विचारधाराएँ उपरोक्त वर्णित दोनों प्रकार की विचारधाराओं का मिश्रित प्रयोग करती हैं। जहां एक ओर ये आक्रमणकारी पद्धति से स्थिति के परिवर्तन की बात करती हैं, वहीं दूसरी ओर ये यथास्थिति बनाये रखने की कोशिश भी करती हैं। मोरगेन्थाऊ तीन प्रमुख विचारधाराओं को इस श्रेणी में सम्मिलित करता है – राष्ट्रीय आत्म निर्णय की विचारधारा, शान्ति की विचारधारा तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठन की विचारधारा। इन तीनों प्रकार की विचारधाराओं का विभिन्न राष्ट्रों ने दोनों संदर्भों में प्रयोग किया है। उदाहरण के रूप में, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार जहां एक ओर साम्राज्यवाद के विरोध स्वरूप नये राष्ट्रों का उदय हुआ वहीं पर कई नेताओं ने इसका हवाला देकर कई राज्यों को अपने क्षेत्र में विलीन कर लिया। इसी प्रकार शान्ति के नाम पर राज्यों ने शान्ति भंग करने वाले राष्ट्रों के विरुद्ध कार्यवाही कर शोषण व साम्राज्यवादी नीतियों का अन्त किया वहीं दूसरी ओर शान्ति स्थापना के नाम पर शक्तिशाली राष्ट्रों ने छोटे राष्ट्रों पर हस्तक्षेप किया तथा अपने अनुरूप शासन व्यवस्था स्थापित पर ली। संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठन का विचार जहां एक ओर विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सुचारु व्यवस्था का प्रतीक है वहीं दूसरी ओर विजयी राष्ट्रों हेतु बड़े फायदे का सौदा साबित हुआ, क्योंकि इससे सुरक्षा परिषद् की स्थाई सदस्यता के माध्यम से विजयी राष्ट्रों का स्थाई वर्चस्व स्थापित हो गया।

परन्तु यह सत्य है कि विचारधारा का स्वरूप कुछ भी हो यह राष्ट्रीय हितों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती है।

बल्कि कई बार तो अपने राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में ही राज्य अपनी विचारधारा तय करते हैं। इस प्रकार जिस प्रकार हित विचार धारा का निर्माण करता है उसी प्रकार हित भी विचारधारा द्वारा निर्धारित हो सकता है। अतः ये दोनों एक दूसरे से परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

विचारधारा की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका का आकलन करें तो निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट रूप से उजागर होते हैं – (1) विचार किसी भी देश की विदेश नीति को दिशा प्रदान करती है, इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में इसके मूल्य/मान्यताएं विदेश नीति के माध्यम से प्रभावित करते हैं। (2) इससे राष्ट्र शक्ति को भी सुदृढ़ता मिलती है। यह तथ्य उस स्थिति में अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाता है जब वह देश विविधता से पूर्ण हो। (3) विचारधारा कई बार राष्ट्रों में असंगठित विचारों को एकता के सूत्र में पिरोकर एक आन्दोलन का रूप प्रदान कर देते हैं। (4) कई बार इसका नकारात्मक स्वरूप भी देखने को मिलता है। यह नकारात्मक अभिव्यक्ति कट्टरवाद के रूप में परिलक्षित होती है। (5) कई बार विभिन्न विचारधाराओं के कारण या परस्पर विरोधी विचारधाराओं के कारण विश्व में तनाव व शीतयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के रूप में 1945–1991 तक विश्व राजनीति साम्यवाद व पूंजीवाद की विरोधी विचारधाराओं के कारण शीतयुद्ध के दौर से गुजरी। (6) विचारधाराओं के कट्टरता के कारण कई बार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विरोधी गुटों में बंट जाती है। दोनों गुटों के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बद्ध सभी निर्णय वस्तुनिष्ठता एवं गुणों के आधार पर न लेकर विचारधाराओं से सम्बद्धता के अनुरूप लिए जाते हैं। शीतयुद्ध काल में विश्व सभी व्यावहारिक दृष्टि से परस्पर दो विरोधी खेमों में बंट गया था तथा सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित निर्णय उसी का परिणाम रहे।

अतः यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा का विशेष महत्व/स्थान सुनिश्चित है। यद्यपि कुछ समय पूर्व विचारधारा के अंत के सिद्धान्त पर विद्वानों में काफी बहस हुई परन्तु विचारधारा के व्यावहारिक रूप को देखते हुए यह सैद्धान्तिक बहस सफल नहीं हो सकी। वर्तमान समय में फिर से विचारधारा को दो प्रमुख चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। प्रथम, शीतयुद्धोत्तर युग में फुकुयामा ने अपनी नवीनतम पुस्तक के माध्यम से “विचारधारा के अन्त” को स्थाई सिद्ध करने का प्रयास किया है। द्वितीय, 1992 के बाद ज्यादातर राष्ट्र अब एक ही विचारधारा के समर्थक बन गये। और यह विचारधारा है – भूमण्डलीकरण की। अब पाश्चात्य देश ही नहीं लगभग सम्पूर्ण तीसरी दुनिया के देश, जिसमें स्वयं रूस व चीन सहित कई साम्यवादी देश भी सम्मिलित है। परन्तु इन चुनौतियों के बाद भी यह मानना कि विचारधारा का अन्त हो गया है यह गलत है, क्योंकि भूमण्डलीकरण भी विचारधारा का ही एक स्वरूप है। इसके अतिरिक्त, अभी बदलाव का दौर चल रहा है इसके बाद शायद पहले जैसी विचारधाराएं न भी उत्पन्न हों, परन्तु नये सन्दर्भ एवं स्वरूप में विचारधाराओं की उत्पत्ति न हो ऐसा पूर्ण प्रमाणिकता से कहना उचित नहीं होगा।

4.5 विदेश नीति एवं राजनय

4.5.1 विदेशनीति

विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करना तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को अपने अनुकूल रखने की व्यवस्था है। इसीलिए इसे विदेशों से संबंध, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रबंध, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का राष्ट्रीय हितों के साथ समायोजन आदि माना गया है। इसके द्वारा अन्य राज्यों से इस प्रकार व्यवहार/संबंध स्थापित करना है कि वे इसके हितों के अनुरूप कार्य करें। इसके साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में भी स्थिति इस प्रकार अपने अनुरूप रखना कि कम से कम कीमत पर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। इस प्रकार अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के संदर्भ में ही कोई भी देश अपनी विदेश नीति तय करता है। इस प्रकार के हितों में दोनों ही अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन हितों को ध्यान में रखा जाता है।

विदेश नीति का निर्धारण दो प्रकार के तत्त्वों – आन्तरिक एवं बाह्य – पर निर्भर करता है। आन्तरिक

तत्त्वों में मुख्य रूप से भूगोल, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक प्रणाली, विरासतें, राजनैतिक नेतृत्व, सैन्य क्षमता, मनोबल, जनमत आदि सम्मिलित होते हैं। बाह्य निर्धारक तत्त्वों में अंतर्राष्ट्रीय संगठन, क्षेत्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय कानून, विश्वजनमत आदि की भूमिका प्रमुख होती है। विदेश नीति निर्माण प्रक्रिया में कार्यपालिका, विधानमण्डल, विदेश मंत्रालय, गुप्तचरी विभाग, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद्, जनमत आदि की विशिष्ट भूमिका होती है।

विदेशनीति अपने अल्पकालिक व दीर्घकालीन लक्ष्यों हेतु प्रयासरत रहती है। इसके लक्ष्यों में निम्न उद्देश्यों को मूल रूप से अहम स्थान प्राप्त है – राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, अनुकूल विश्वव्यवस्था, सैन्य क्षमता का विकास, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा, विदेशों में बसे नागरिकों की सुरक्षा, धार्मिक व सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति आदि। इनकी प्राप्ति हेतु सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग होता है मुख्य रूप से सन्धि, समझौतों, वार्ताओं, आर्थिक सहयोग, क्षेत्रीय संगठनों का गठन, दण्डात्मक राजनय, अनुनय तथा अन्ततः युद्ध आदि उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत गुप्तचरी, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की मदद, विशेष धमकियों एवं चेतावनी आदि का प्रयोग भी किया जाता है। कई बार विदेश नीति उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु परमाणु, रसायन व जैविक हथियारों को राजनय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

विभिन्न राष्ट्रीय हितों के कारण सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियाँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के अनुरूप ही उन्हें इस व्यवस्था का प्रयोग करना होता है। इसीलिए शायद राष्ट्र कई प्रकार की विदेश नीतियों का अनुसरण करते हैं। इनमें से प्रमुख विदेश नीतियों के स्वरूप हैं – अलगाववाद की नीति, तटस्थता की नीति, यथास्थिति की नीति, साम्राज्यवाद की नीति, राष्ट्रीय सार्वभौमिकता की नीति आदि। इस प्रकार राष्ट्रों के हितों, क्षमताओं, स्थिति, शक्ति समीकरणों, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति आदि को देखते हुए विदेश नीतियों के विभिन्न स्वरूप को देखा जा सकता है।

4.5.2 राजनय

राजनय भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण भाग है। यह राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में सहायक होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी गतिशीलता पैदा करती है। विदेश नीति को व्यावहारिक रूप देने के कार्य भी राजनय द्वारा ही पूरा किया जाता है अतः इस दृष्टि से भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इसका महत्व बढ़ जाता है। परम्परागत राजनय का मुख्य कार्य राज्यों के साथ मैत्री स्थापित करके राष्ट्रीय हितों में की वृद्धि करना है, परन्तु आधुनिक राजनय इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के साधन के रूप में भी कार्यरत होती है। इसीलिए कूटनीति की परिभाषाओं का सार यह है कि – अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की व्यवस्था, समझौतों, सन्धियों एवं वार्ता की कला, तथा, राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन के रूप में की जाती है।

राजनय के माध्यम से विदेश नीति के संचालन द्वारा या निम्न प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति करने हेतु प्रयासरत रहती है। सबसे प्रथम अपने राज्य की सुरक्षा, अखण्डता व एकता बनाए रखना इसका महत्वपूर्ण कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से इसका दूसरा कार्य मित्र राष्ट्रों से संबंध बनाना तथा विरोधी राष्ट्रों को तटस्थ करने के प्रयास करना। तृतीय, अपने राज्य के आर्थिक व व्यापारिक हितों की रक्षा करना चाहे वे द्विपक्षीय, क्षेत्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर से सम्बन्धित हो। चतुर्थ, राष्ट्र के हितों के सुचारु संचालन हेतु सद्भावना पूर्ण संबंधों का होना भी अनिवार्य है। अतः राजनय के माध्यम से सभी राष्ट्रों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति की अनुसरण का प्रयास करते हैं। अन्ततः कई बार अन्तिम विकल्प के रूप में युद्ध के संचालन का कार्य भी राजनय के माध्यम से पूरा करना पड़ता है। युद्ध के संचालन के साथ-साथ हार-जीत होने पर भी राजनय के माध्यम से ही सन्धि व समझौतों को अन्तिम रूप दिया जाता है।

परन्तु राजनय स्वरूप में भी परिवर्तन होते रहे हैं। परम्परागत राजनय एवं वर्तमान राजनय के गुणात्मक रूप से परिवर्तन स्पष्ट रूप से झलकते हैं। परम्परागत राजनय मुख्य रूप से यूरोप केन्द्रित, बड़ी शक्तियों के वर्चस्व,

महाशक्तियों के छोटे राष्ट्रों के हस्तक्षेप; गुप्त सन्धियों, दरबारी राजनय आदि की विशेषताओं से पूर्ण था। परन्तु समसामयिक राजनय बिल्कुल इसका परिवर्तित रूप है। नवीन राजनय में मुख्यतया प्रजातान्त्रिक राजनय, व्यक्तिगत राजनय, सम्मेलनों की कूटनीति, शिखर कूटनीति, वाणिज्यिक राजनय, सांस्कृतिक राजनय, संसदात्मक राजनय, प्रचार राजनय आदि विशेषताओं पर आधारित है। अतः आधुनिक राजनय प्राचीन समय से क्षेत्र, विषय वस्तु, स्वरूप आदि में काफी हद तक बिल्कुल भिन्न है।

इस प्रकार आज राजनय की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह परस्पर राष्ट्रों के बीच सन्धि, समझौतों एवं मधुर संबंधों की स्थापना का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। यह राजनैतिक परिस्थितियों का निरन्तर निरीक्षण करके राज्यों को इससे अवगत कराता है। यह विदेश में बसे नागरिकों के अधिकारों व दायित्वों की रक्षा व उन्हें संरक्षण प्रदान करता है। इसके साथ-साथ यह अपने राष्ट्र हितों को दूसरे शब्दों के समक्ष बड़ी सहजता एवं चतुराई से प्रस्तुत करने में सक्षम है। अन्ततः अपनी नीतियों के प्रति दूसरे राष्ट्रों में सद्भावना उत्पन्न करने तथा उनसे सहयोग प्राप्ति हेतु भी यह सफल है।

राजनय की उपरोक्त भूमिका को कुछ सीमाओं के अंतर्गत रह कर कार्य करना पड़ता है। सर्वप्रथम, कई बार राष्ट्र किसी मुद्दे पर इतना कठोर रुख अपना लेते हैं कि राजनय बिल्कुल विफल हो जाता है। जब तक विवादास्पद राज्य थोड़ा नर्म रुख नहीं रखते राजनय की कार्य हेतु स्थान नहीं मिलता। भारत व पाकिस्तान के मध्य कश्मीर समस्या इसका सटीक उदाहरण है। द्वितीय, कई बार शक्ति संबंधों पर आधारित रिश्तों में भी राजनय कुछ करने में सक्षम नहीं रहता। जैसे शीतयुद्ध काल में पूर्व सोवियत संघ व अमेरिका के संबंध रहे। तृतीय, अंतर्राष्ट्रीय कानून भी एक सीमा के दायरे में राजनय के संचालन की इजाजत देते हैं। और यह सीमा होगी नैतिकता, औचित्यपूर्ण, न्यायसंगत आदि। चतुर्थ, कई बार जब राज्य मात्र सौदेबाजी पर उतर आये तब भी राजनय की सफलता पर भी प्रश्नचिन्ह लगा रहता है। अन्ततः अंतर्राष्ट्रीय जनमत के दबाव के कारण भी राजनय को उसके अनुरूप कार्य करना पड़ता है।

उपरोक्त के अतिरिक्त वर्तमान विश्व में हुए कई बदलावों ने भी राजनय प्रक्रिया को और कमजोर बना दिया है जिसे कुछ लोग इसकी अवनति का कारण मानते हैं। वर्तमान युग में संचार साधनों के विकास; शिखर सम्मेलनों की राजनय; राजनय के अवमूल्यन; अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आये बदलाव; राजनेताओं द्वारा सीधे राजनयिक व्यवस्था में भाग लेने; अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने संसदीय प्रक्रियाओं के रूप में राजनय प्रक्रियाओं आदि ने समसामयिक समय में राजनय को काफी कमजोर कर दिया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनय बिल्कुल समाप्त हो गया है। अपितु विध्वंसक हथियारों की उत्पत्ति, भूमण्डलीकरण, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं आदि के कारण आज भी राजनय का महत्त्व बना हुआ है। इसके अतिरिक्त, जब तक राष्ट्रों के बीच संघर्ष रहेंगे राजनय शान्ति स्थापना का सबसे सस्ता साधन रहेगा तथा राज्यों के मध्य संघर्षों की पूर्ण समाप्ति असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य प्रतीत होती है।

4.5.3 परस्पर संबंध

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति एवं राजनय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। इसी कारण से कई विद्वान तो इन दोनों अवधारणाओं को पर्यायवाची होने की संज्ञा भी देते हैं। परन्तु इतना तो सत्य है कि ये दोनों अवधारणायें समानार्थक नहीं हैं। हां इतना अवश्य है कि इन दोनों के सम्बन्धों में अति घनिष्ठता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इनके परस्पर सम्बन्धों का आवश्यक अध्ययन किया। गहन अध्ययन के बाद यह स्पष्ट होता है कि निम्न कारणों से ये दोनों एक दूसरे के पूरक/सहायक हैं तथा घनिष्ठता का रिश्ता रखते हैं। प्रथम, विदेश नीति विभिन्न कारकों/निर्धारक तत्त्वों के आधार पर तय की जाती हैं, लेकिन उसका व्यावहारिक स्वरूप उसके लागू होने के बाद ही स्पष्ट हो पायेगा। विदेश नीति को लागू करने का कार्य राजनय के माध्यम से होता है अतः दोनों में घनिष्ठ संबंध होना अनिवार्य हो गया है। द्वितीय, विदेश नीति के प्रभावी होने के लिए शक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व

है। किसी राज्य की आन्तरिक ही नहीं बाह्य कारणों से भी बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार बाह्य तत्त्वों के आधार पर शक्ति को समर्पित करने का कार्य राजनय के माध्यम से ही करते हैं। तृतीय, किसी राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में छवि केवल उचित विदेश नीति के निर्धारण मात्र से नहीं बनती, बल्कि उसकी इस छवि के पीछे राजनयिकों की मेहनत अति महत्त्वपूर्ण होती है। विद्वान राजनयिक अपने देश की अच्छी छवि बनाने में विदेश नीति निर्णयों को सुचारु रूप से कार्यान्वित करके बना सकते हैं। चतुर्थ, राजनय शुद्ध व शान्ति दोनों परिस्थितियों में कारगर सिद्ध होती है। राजनय के माध्यम से विदेश नीति के विभिन्न विकल्पों का उचित उपयोग करके युद्ध को टाला जा सकता है। शान्तिकालीन समय में भी परिस्थितियों से अत्यधिक लाभ कमाने हेतु राजनय को लचीला, तर्क संगत एवं अति जागरूक होना अनिवार्य है। पंचम, राष्ट्रों के परस्पर मधुर संबंधों का होना उनकी विदेश नीतियों के प्रारूप पर निर्भर करता है। परन्तु उतना ही महत्त्वपूर्ण है उन विदेश नीति संबंधों निर्णयों को लागू करने पर। अतः राष्ट्रों के मध्य मधुर संबंधों की स्थापना काफी हद तक राजनय पर निर्भर करती है। षष्ठ, राजनय केवल निर्णयों को लागू करने की क्रिया मात्र नहीं है, बल्कि कई संदर्भों में विदेश नीति की समस्याओं का समाधान भी ढूंढता है। जबकि राजनयिक किसी मुद्दे पर विदेशों में बातचीत कर रहा होता है। तो उसका उद्देश्य इसमें सफलता पाना है। यदि वह सफल होता है, तो इसका अर्थ है वह समस्या भी हल हो गई है। सप्तम, राजनय का यह कार्य भी है कि विदेश नीति के संदर्भ में एकमत स्थापित करना। क्योंकि विदेश नीति को व्यवहारिकता प्रदान करने में राजनय विभिन्न असहमतियों को सहमतियों में बदलने की कोशिश करता है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि विदेशनीति के सफलता या असफलता काफी सीमा तक राजनय पर भी निर्भर करती है। शायद इन्हीं कारणों से हम कह सकते हैं कि दोनों में घनिष्ठ संबंध हैं। दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची न सही, परन्तु सहयोगी एवं पूरक आवश्यक हैं।

4.6 सारांश

इस अध्याय में मूलतः राष्ट्रीय हित की परिभाषा एवं उसके अभिवृद्धि के साधनों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ-साथ विचारधारा के विभिन्न स्वरूपों का भी वर्णन किया गया है। इन दोनों अवधारणाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध विदेश नीति एवं राजनय से है। इसीलिए इस अध्याय में विदेश नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पहलुओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

4.7 प्रश्नावली

1. राष्ट्रीय हित से क्या अभिप्राय है। इसकी अभिवृद्धि के मुख्य साधनों का वर्णन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका का वर्णन कीजिए।

4.8 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्युयार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्ट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिट एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—5

राजनय : स्वरूप एवं विकास

अध्याय का ढांचा

5.1 प्रस्तावना

5.1.1 अध्याय के उद्देश्य

5.2 राजनय क्या है?

5.3 राजनय एवं विदेश नीति

5.3.1 एक-दूसरे के पूरक

5.3.2 एक-दूसरे के विरोधी

5.4 राजनय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून

5.5 राजनयिक रणनीति

5.6 राजनय का विकास

5.6.1 यूनानी काल

5.6.2 रोमन काल

5.6.3 बाइजेन्टाइन साम्राज्य काल

5.6.4 मध्य युग

5.6.5 वर्तमान काल

5.7 राजनय के लक्ष्य

5.7.1 राष्ट्रीय हितों की रक्षा

5.7.2 राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की रक्षा करना

5.7.3 मित्रों से सम्बन्ध बढ़ाना और शत्रुओं को तटस्थ बनाना

5.7.4 विरोधियों के गठबन्धन को रोकना

5.7.5 युद्ध का संचालन

5.7.6 आर्थिक विकास

5.7.7 सहायता प्राप्ति

5.7.8 राज्यों के स्थाई हितों की पूर्ति

5.7.9 पारस्परिक आदान-प्रदान

5.7.10 सद्भावना की स्थापना

5.8 शक्ति एवं राजनय

5.9 सारांश

5.10 प्रश्नावली

5.11 पाठन सामग्री

राजनय : स्वरूप एवं विकास

5.1 प्रस्तावना

आज के वैज्ञानिक युग के कोई देश अलग-अलग नहीं रह सकता। इन देशों में पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ना आज के युग में आवश्यक हो गया है। इन सम्बन्धों को जोड़ने के लिए योग्य व्यक्ति एक देश से दूसरे देश में भेजे जाते हैं। ये व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता और कूटनीति से दूसरे देश को प्रायः मित्र बना लेते हैं। प्राचीन काल में भी एक राज्य दूसरे राज्य से कूटनीतिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए अपने कूटनीतिज्ञ भेजता था। पहले कूटनीति का अर्थ 'सौदे में या लेन देन में वाक्य चातुरी, छल-प्रपंच, धोखा-धड़ी लगाया जाता था। जो व्यक्ति कम मूल्य देकर अधिकाधिक लाभ अपने देश के लिए प्राप्त करता था, कुशल कूटनीतिज्ञ कहलाता था। परन्तु आज छल-प्रपंच को कूटनीति (Diplomacy) नहीं कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिक काल में इस शब्द का प्रयोग दो राज्यों में शान्तिपूर्ण समझौते के लिए किया जाता है। डिप्लोमेसी के लिए हिन्दी में कूटनीति के स्थान पर राजनय शब्द का प्रयोग होने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत एक परिवार के समान बन गया है। परिवार के सदस्यों में प्रेम, सहयोग, सद्भावना तथा मित्रता का सम्बन्ध जोड़ना एक कुशल राजनयज्ञ का काम है।

5.1.1 अध्याय के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया को चलाने हेतु राजनय की महत्वपूर्ण भूमिका है। सभ्य समाज में राष्ट्र राजनय के माध्यम अपने हितों की पूर्ति तथा अन्य राज्यों के हितों में सामंजस्य बनाते हैं। अतः इस अध्याय में राजनय के सभी पहलुओं का विस्तृत स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसमें राजनय क्या है, इसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका, अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सामंजस्य आदि के बारे में बताया गया है। इसमें राजनय के विकास के साथ-साथ इसके विभिन्न लक्ष्यों पर भी चर्चा की गई है। अतः इस अध्याय से विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कार्यन्वयन करने वाले पहलुओं के बारे में अवगत कराना है।

5.2 राजनय क्या है

राजनय शब्द अंग्रेजी शब्द Diplomacy का हिन्दी रूपान्तरण है। डिप्लोमेसी शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के "डिप्लाउन" शब्द से हुई है जिसका अर्थ मोड़ना अथवा दोहरा करना (To fold) है। ग्रीक राज्यों के पतन के बाद रोमन साम्राज्य का विकास हुआ। रोमन साम्राज्य में पासपोर्ट एवं सड़कों पर चलने के अनुमति पत्र आदि दोहरे करके सील दिये जाते थे। ये पासपोर्ट तथा अनुमति पत्र धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे। इनको डिप्लोमा कहा जाता था। धीरे-धीरे डिप्लोमा शब्द का प्रयोग सभी सरकारी कागजातों के लिए होने लगा। विदेशियों के विशेषाधिकार अथवा उन्मुक्ति एवं विदेशी सन्धियों सम्बन्धी कागजात भी डिप्लोमा कहे जाने लगे। जब इन सन्धियों की संख्या अधिक हो गई तो उन्हें सुरक्षित स्थानों पर रखा जाने लगा। ये स्थान बाद में राजकीय अभिलेखागारों के नाम से जाने गये। राज्याभिलेखागारों के डिप्लोमाज की संख्या बढ़ने पर उनको छांट कर अलग करने और उनकी देखभाल रखने के लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त किये जाने लगे। इन कर्मचारियों का कार्य राजनयिक कृत्य (Diplomacy

Business) कहा गया। धीरे-धीरे इस कार्य व्यापार के लिए डिप्लोमेसी शब्द प्रयुक्त होने लगा।

परिभाषा

राजनय शब्द का प्रयोग विचारकों द्वारा अनेक अर्थों में किया गया है। हेरल्ड निकलसन (Herold Nicolson) के अनुसार कभी इसका प्रयोग विदेश नीति के समानार्थक के रूप में लिया जाता है, जैसे भारतीय राजनय पड़ोसी देशों में सफल नहीं रही। कभी इस शब्द द्वारा संधि वार्ता को इंगित किया जाता है, जैसे इस समस्या को राजनय द्वारा सुलझाया जा सकता है। राजनय सन्धि वार्ता की प्रक्रिया एवं यंत्र को भी इंगित करता है। कभी-कभी विदेश सेवा की एक शाखा को राजनय कह दिया जाता है। राजनय को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ता करने का अमूर्त गुण या कुशलता भी मान लिया जाता है। इसका सबसे दूषित प्रयोग वह है जब इसे एक कपटपूर्ण कार्य अर्थ में लिया जाता है। विभिन्न लेखकों ने इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया है –

- आर्गेन्सकी के अनुसार—“राजनय दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करता है।”
- सर अर्नेस्ट सैंटों के अनुसार, “राजनय स्वतन्त्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारों सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।”
- पामर तथा परकिन्स ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि यदि राज्यों के आपसी सम्बन्धों में बुद्धि और चातुर्य का अभाव है तो क्या राजनय असम्भव होगा?”
- के.एम. पनिककर के शब्दों में, ‘अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त राजनय अपने हितों को दूसरे देशों से अग्रिम रखने की एक कला है।’
- पेडिलफार्ड तथा लिंकन के शब्दों में ‘राजनय को प्रतिनिधित्व एवं सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क रखते हैं।’
- मैकल्लिन तथा अन्य के अनुसार, ‘राजनय की मूलभूत परिभाषा के अनुसार यह राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्पर्क का एक रूप है जो प्रत्येक अन्य राज्य की राजधानी में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधित्व पर आधारित है।’
- वेब्सटर्स न्यू इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार राजनय का अर्थ है— “राष्ट्रों के मध्य, सन्धि वार्ता संचालन की कला और आचार जैसे – सन्धियों की व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय समागम के संचालन का कार्य या कला अथवा ऐसे समागम में कौशल या पटुता का प्रयोग।” ऑक्सफार्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार, “सन्धि वार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था राजनय है। यह वह प्रणाली है जिसके द्वारा राजदूत एवं दूत इन सम्बन्धों की व्यवस्था और प्रबन्ध करते हैं। यह राजनयिक कार्य अथवा कला-कौशल है।”
- क्विन्सी राइट ने राजनय को दो अर्थों में परिभाषित किया है – लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में – ‘किसी सन्धि वार्ता या लेन-देन में चातुर्य, धोखेबाजी एवं कुशलता का प्रयोग है। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धि-वार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके।’
- राबर्ट रेगेला (Robert Regala) के अनुसार राजनय शब्द का काफी दुरुपयोग हुआ है। असल में राजनय एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें अनेक क्रियायें शामिल हो जाती हैं। यह दुनिया के ऐसे कुछ व्यवसायों में से एक है जिसकी परिधि में मानवीय क्रिया की प्रत्येक शाखा शामिल हो जाती है। इसका सम्बन्ध शक्ति

राजनीति (Power Politics) आर्थिक शक्ति एवं विचारधाराओं के संघर्ष से है। रेगेला राजनय को 'समझौता वार्ता की कला मानता है।

- एडमण्ड बर्क ने राजनय की परिभाषा देते हुए लिखा था कि राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचालन अथवा संचालन है।
- जार्ज एफ. केनन का कहना है कि तकनीकी अर्थ में राजनय की व्यवस्था सरकारों के बीच सम्पर्क के रूप में की जा सकती है।

इस प्रकार विभिन्न विचारकों ने राजनय की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं।

ये सभी परिभाषायें पूर्णतः उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि समय तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ राजनय का अर्थ भी बदलता रहता है। अनेक विचारकों ने राजनय को केवल एक व्यवसाय ही नहीं वरन् एक कला भी माना है। अधिकांश सरकारें अपने हितों की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि के लिए इसे अपनाते लगी हैं। यह धीरे-धीरे शान्ति का एक प्रभावशाली साधन बनता जा रहा है। शुरु में राज्य असीमित शक्तियों से सम्पन्न होते थे फलतः राजनयज्ञों को सम्प्रभु माना जाता था। उन्हें कार्य करने की पर्याप्त स्वतंत्रता सौंपी जाती थी। इस स्वतंत्रता का अन्य कारण यह था कि उस समय संचार के द्रुतगामी साधनों का अभाव था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनयिकों की यह व्यापक स्वतंत्रता सीमित होने लगी। उस समय राजनय की एक अन्य विशेषता यह भी थी कि राजनयज्ञों को उनके कार्य से सम्बन्धित आदेश तथा निर्देश देकर ही भेजा जाता था। आजकल संचार के तीव्रगामी साधनों की सुविधा के कारण यह आवश्यक नहीं रहा है। राजनय को कुछ लोग एक रहस्यपूर्ण व्यवसाय मानते हैं। यह सही नहीं है। ह्यूग गिबसन (Hugh Gibson) के अनुसार, "असल में राजनय एक भ्रमसाध्य व्यवसाय है। यह जादू अथवा रहस्य से परे है। इसे किसी भी अन्य सरकारी कार्य की भांति एक गम्भीर व्यवसाय के रूप में देखा जा सकता है। पामर तथा परिकिन्स ने राजनय की कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है। ये विशेषतायें राजनय के स्वरूप (Nature) को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं :-

1. राजनय एक मशीन की भांति अपने आप में नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है। इसका मूल्य इसके प्रयोग करने वाले के अभिप्रायों व योग्यताओं पर निर्भर करता है।
2. राजनय का संचालन विदेश कार्यालयों, दूतावासों, दूतकर्मों, वाणिज्य, दूतों एवं विश्वव्यापी विशेष मिशनों के माध्यम से किया जाता है।
3. राजनय मूल रूप से द्विपक्षीय है। यह राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का नियमन करता है।
4. आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय प्रबन्धों एवं सामूहिक सुरक्षा प्रयासों के बढ़ जाने के कारण राजनय के बहुपक्षीय रूप का महत्व बढ़ गया है।
5. राजनय राष्ट्रों के बीच साधारण मामलों से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े-बड़े सभी मामलों पर विचार करता है। जब यह सम्बन्ध टूट जाता है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े संकट का खतरा पैदा हो जाता है।

निकलसन का यह कहना ठीक नहीं है कि युद्ध आरम्भ होने पर राजनयिक कार्य बन्द हो जाते हैं, क्योंकि पामर और परिकिन्स के विचार से राजनयज्ञों का कार्य देश की रक्षा करना है। अतः युद्ध के समय हाथ धर कर नहीं बैठते हैं, बल्कि उस समय वे सैनिक कार्यों में सहयोग देते हैं। इस प्रकार युद्धकाल में राजनयज्ञों का कार्य रुकता नहीं, बल्कि उनके कार्य का रूप बदल जाता है। युद्ध काल में राजनय का कार्य अधिक बढ़ जाता है। पिछले दो विश्व युद्धों की घटनाओं के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। राजनय का

स्वरूप समझने के लिए यह उपयोगी है कि विदेश नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राजनयिक राजनीति से उसके सम्बन्ध तथा अन्तर का अध्ययन किया जाये।

5.3 राजनय एवं विदेश नीति

राष्ट्रीय कार्यक्रम को पूरा करने की विधि है नीति – यह आन्तरिक अथवा बाहरी कैसी भी हो सकती है। आन्तरिक नीति गृह-कार्यों से सम्बन्धित होती है जबकि विदेश नीति राष्ट्र की बाहरी व्यवस्थाओं से। विदेश नीति और राजनय, राजनीति के वे पहिये हैं जिनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति चलती है। किसी राष्ट्र द्वारा अन्य राज्यों के सन्दर्भ में अपने ध्येयों की पूर्ति ही विदेश नीति है। ऐसी विदेश नीति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता जो राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करें। अतः विदेश नीति का अर्थ राज्य के उस व्यवहार के रूप में लिया जाता है जिसके माध्यम से राज्य अपने हितों की पूर्ति करते हैं।

अर्वाचीन युग में कोई राज्य अपने आप में पार्थक्य की नीति अपनाकर अलग रह सकें, यह सर्वथा असम्भव है। विदेश नीति का निर्माण बहुत सोच समझ कर किया जाता है क्योंकि इसी के सही निर्णय पर ही राज्य का भविष्य निर्भर करता है। विदेश नीति के निर्माण में राज्य को कई तत्वों का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन व जापान की विदेश नीति अपनी भौगोलिक स्थिति से गहरे रूप से प्रभावित रही है। राज्यों के प्राकृतिक स्रोता अथवा उनका सामरिक महत्व आदि राज्य की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। अविकसित राज्य, जो विभिन्न शक्तियों से सहायता प्राप्त करते रहते हैं तथा उन्हीं पर निर्भर रखते हैं, कभी भी स्वतंत्र विदेश नीति का निर्माण नहीं कर सकती हैं। किसी देश की सैनिक शक्ति उसकी विदेश नीति को उत्साही बनाकर गलत मार्ग पर ले जाती है। जर्मनी, इटली और जापान ने सैनिक शक्ति के कारण ही अपने पड़ोसी राज्यों पर हमला किया और विश्व युद्ध का आह्वान किया।

राज्यों की राजनीति तथा उनकी विदेश नीति का निर्माण देश के राजनेता करते हैं, तो राजदूत इसका क्रियान्वयन। विदेशनीति के निर्धारण में राज्यों को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कई दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना पड़ता है। जैसे राज्य की भौगोलिक स्थिति, आर्थिक आवश्यकताएं, प्राकृतिक स्रोत, प्रतिरक्षा की आवश्यकताएं तथा सन्धियां आदि। इसके माध्यम से विरोधी अथवा शत्रु पक्ष को शक्तिहीन अथवा मित्र राज्य को और भी अधिक गूढ़ मित्र बनाने का प्रयास किया जाता है। विदेश नीति के माध्यम से राज्यों में मध्य सन्तुलन बनाये रखने अथवा सामूहिक सुरक्षा आदि के कदम उठाये जाते हैं। विदेश नीति का मूल मन्त्र है शत्रु का शत्रु मित्र है। चीन ने इसी नीति के अन्तर्गत भारत के शत्रु पाकिस्तान के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाये थे। इसी प्रकार विदेश नीति का उद्देश्य 'तटस्थ सीमाओं' की स्थापना भी है। सीमा के प्रश्न को लेकर राज्यों के मध्य सम्बन्ध प्रायः बिगड़ते हैं। भारत-पाकिस्तान, भारत-चीन, रूस-चीन आदि देशों के मध्य युद्ध अथवा युद्ध की स्थिति आती रही है। राज्यों की आर्थिक स्थिति, व्यापार और वाणिज्य आदि के सन्दर्भ में भी विदेशनीति के निर्णय लिये जाते हैं। सत्ता की प्राप्ति के प्रयासों में राज्य कभी-कभी अपने स्वतन्त्र निर्णय के अधिकार खो बैठते हैं। राज्य की विदेश नीति के निर्णय उसकी सामरिक स्थिति तथा सैनिक शक्ति पर निर्णय करते हैं। राज्य जितना अधिक सशक्त होगा उतनी ही सफल राजनय होगा। फ्रैंज़िक महान के अनुसार, "शक्ति बिना राजनय ठीक वैसा ही है जैसा वाद्य बिना संगीत।" संयुक्त राज्य अमेरिका का राजनय उसकी शक्ति के कारण ही सफल है। यदि कोई राज्य निर्बल हो तो वह स्वयं अन्य राज्यों का उस देश में हस्तक्षेप अथवा आक्रमण का निमन्त्रण देता है। पोलैण्ड के विभाजन, इटली का यूरोप की रणस्थली बनाना, हिटलर द्वारा आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवेकिया का विलय तथा चीन का भारत का आक्रमण, राज्यों के शक्तिहीन होने के कारण ही सम्भव हुआ है।

नीति निर्माताओं द्वारा अपने उद्देश्यों को निर्धारित करने के पश्चात राज्य के समक्ष इन उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रश्न आता है और यही राजनय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विदेश नीति के क्षेत्र में राज्य सक्रिय अथवा निष्क्रिय

हो सकता है। यदि राज्य सक्रिय है तो राज्य के समक्ष चार विकल्प होते हैं, जिसके आधार पर वह कार्य करता है – राजनीतिक (राजनय) आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक। समय और परिस्थितानुसार राज्य इनमें से कोई भी एक विकल्प अपना सकता है अथवा इसके सम्मिलित रूप का भी प्रयोग कर सकता है। निष्क्रियता वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में किसी भी राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। राज्य, प्रायः राजनय के मार्ग का ही उपयोग करते हैं। विदेश नीति का उद्देश्य मित्र राज्यों के साथ सम्बन्धों के अधिक प्रभाव और शुत्र पक्ष को निष्क्रिय बनाना होता है। राजनय वह साधन है जो वार्ता और चतुरता से इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होता है। विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति का सर्वोच्च एवं महत्त्वपूर्ण साधन ही है। वास्तव में विदेश नीति ही राजनय का कौशल है। किसी भी विदेश नीति का निर्माण इन अधिकारियों का कार्य है, वहीं दूसरे देशों के संदर्भ में इसका क्रियान्वयन राजदूतों का। आज के इस जटिल युग में तकनीकी दृष्टि से भले ही विदेश विभाग अकेला ही विदेश नीति का निर्माता माना जाता हो, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राजदूत भी इसके निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। राजदूत की गतिविधियां उसके देश की विदेश नीति पर आधारित रहती हैं। यद्यपि यह सत्य है कि राजदूत इसके संचालन में स्वतन्त्र नहीं होते।

विदेश नीति और राजनय एक-दूसरे के पर्याय नहीं है। कुछ विद्वान इनका एक-दूसरे के स्थान पर बन्धन मुक्त प्रयोग करते हैं। इनमें पर्याय अन्तर है। विदेश नीति में राष्ट्रों के हितों की रक्षा, उनके मध्य सम्बन्धों की स्थापना तथा इन्हें बनाये रखने के प्रयास सम्मिलित हैं। जे.आर. चाइल्डस के अनुसार किसी भी देश की विदेश नीति "उसके वैदेशिक सम्बन्धों का सार है।" जबकि राजनय वह प्रक्रिया है जिसकी सहायता से विदेश नीति कार्यान्वित किया जा सकता है। सर चार्ल्स वेबस्टर के शब्दों में, "नीति की सबसे अधिक धारणाएँ भी व्यर्थ हैं यदि उनको क्रिया रूप में परिवर्तित करने के साधन नहीं हो।" यह कार्य राजनय करता है।

5.3.1 एक-दूसरे के पूरक

राजनय स्वयं में विदेश नीति नहीं है। वास्तव में राजनय किसी भी देश की विदेश नीति को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया तथा विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्ति का साधन है। इसके मध्य भेद करने वाली विभाजक रेखा खींचना अति कठिन है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि ये एक-दूसरे की सहायता के बगैर चल नहीं सकते। राजनय विदेश नीति का वह साधन है जिसकी सहायता से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया चलती रहती है। वस्तुतः विदेश नीति और राजनय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर विक्टर वैलेसली का भी यही विचार है कि "राजनय और विदेश नीति एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के सहयोग के बिना दूसरे का कार्य नहीं चल सकता। राजनय का विदेश नीति से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं। ये दोनों मिलकर एक प्रशासनिक नीति का निर्माण करते हैं। नीति व्यूह रचना को निर्धारित करती है तथा राजनय चतुरता को।" पैडल फार्ड और लिंकन का भी यही मत है। उनके शब्दों में, "राजनय और विदेश नीति अन्योन्यान्वित हैं। इन दोनों के बीच स्पष्ट विभेद करना उतना ही असंभव है जितना नीति और कार्यक्रम में।" मारगेन्थों की भी यही मान्यता है क्योंकि आज विदेश मंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति आदि व्यापक रूप से राजनय का उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार राजनय और विदेश नीति तथा राजदूत और विदेश मन्त्रियों के मध्य भेद कम होता चला जा रहा है। मारगेन्थो के शब्दों में "विदेश मन्त्रालय के साथ राजनयज्ञ अपने देश की विदेश-नीति को निर्धारित करता है – जिस प्रकार विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का तांत्रिककेन्द्र है, उसी प्रकार राजनयिक प्रतिनिधि इसके दूरस्थसूत्र हैं, जो केन्द्र एवं बाह्य जगत में दोनों ओर से वातावरण बनाये रखते हैं।" सेटो भी विदेश नीति और राजनय में भेद नहीं करता है। इसके अनुसार "डिप्लोमेटिस्ट" शब्द के अन्तर्गत सभी लोक सेवा अधिकारी आते हैं चाहे वे विदेश मन्त्री तक को, भले ही वह राजनीतिज्ञ ही हो, राजनय का एक अंग मानता है, क्योंकि उसे भी विदेश मन्त्रियों, प्रतिनिधियों, राजदूतों आदि से समय-समय पर वार्ता, समझौते आदि करने पड़ते हैं, तथा आवश्यकता पड़ने पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, शिखर वार्ताओं आदि में भाग लेना पड़ता है। डॉ. हेनरी किसिंगर विदेश सचिव होते हुए भी, एक सफल राजदूत का कार्य करते रहे थे। एक सफल राजदूत के रूप में

इन्होंने अमरीकी विदेश नीति के क्रियान्वयन में उल्लेखनीय योगदान दिया था। वियतनाम युद्ध की समाप्ति, चीन व रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध, परिश्वमी एशिया में युद्ध का अन्त और मिस्त्र, सीरिया और जार्डन के साथ नये सम्बन्धों का श्रीगणेश इन्हीं के कुशल राजनयिक प्रयत्नों का परिणाम था। हॉलैण्ड में तो विदेश विभाग के किसी सदस्य अथवा राजदूत को ही विदेशमन्त्री बना दिया जाता है जो अपने कार्यकाल की समाप्ति पर विदेश सेवा में आ जाता है। हीटले ने अपनी पुस्तक "डिप्लोमेसी" के एक फुटनोट में 1861 में प्रकाशित एक प्रतिवेदन का हवाला दिया है, जिसमें उपर्युक्त मत का समर्थन है। इस प्रकार जहाँ विदेश नीति राष्ट्रीय हित संवर्धन हेतु नीतियों का निर्धारण व निर्माण करती हैं, वहीं राजनय उसकी व्याख्या और समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुरूप उसके प्रयोग के संचालन को कार्यविधि है। वैसे तो विदेश नीति और राजनय एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, परन्तु राजदूत स्वयं विदेश नीति के निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से कही भी सम्बन्धित नहीं होते। ये स्वयं इनका निर्माण नहीं करते यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से वे विदेश नीति के निर्माण अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में सहायक अवश्य होते हैं, क्योंकि कोई देश दूसरे के प्रति अपनी नीति का निर्माण उसके राजदूतों द्वारा विभिन्न देशों की राजधानियों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रमुख कार्यालयों से समय-समय पर भेजे गये प्रतिवेदनों के आधार पर करता है। चाईल्डस के शब्दों में "यद्यपि राजनयिक अपनी-अपनी सरकारों को विदेश नीति का आवश्यक रूप से निर्माण स्वयं नहीं करते, फिर भी समुद्र पार अपने-अपने पदों से भेजे गये प्रतिवेदनों के माध्यम से वे ऐसी नीति के निर्माण में अथवा उसे स्वरूप प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतिवेदन सदा ही विदेश नीति के निर्माण में मूल्यवान कच्चे माल के रूप में माने जाते हैं।" के.एम. पणिक्कर का भी यही मत है।"

राजनय के क्षेत्र में सफलता, राजदूत के गुण और योग्यता के साथ-साथ देश की विदेश नीति को बुद्धिमता पर भी निर्भर करती है। प्रसिद्ध विद्वान कैलियर्स भी दूत द्वारा भेजे गये प्रतिवेदनों के महत्त्व को मानता है जिसके आधार पर विदेश नीति का निर्माण होता है, क्योंकि विदेश नीति में निर्णय लेने का प्रगाढ़ सम्बन्ध राजनय के एक प्रधान कार्य-प्रतिवेदन देने व वार्ता करने से है। कैलियर्स के शब्दों में "यद्यपि सभी सफलताओं या विफलताओं के अन्तिम दायित्व देश में स्थित सम्राट एवं उसके मंत्रियों का है तथापि यह उतना ही सत्य है कि...ये मन्त्री विदेशों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही कार्य करते हैं तथा देश की सरकार पर एक प्रबुद्ध राजनयज्ञ का सम्भावित प्रभाव बहुत विस्तृत हो सकता है। विदेश में कार्य करने वाले अयोग्य व्यक्ति अत्यन्त बुद्धिमतापूर्ण विदेशों का कोई उपयोग नहीं कर पाते, तथा योग्य व्यक्ति अपनी सूचनाओं और सुझावों की यथार्थता एवं तर्क संगतता द्वारा अत्यन्त साधारण विदेशों का उत्कृष्टतर उपयोग कर सकते हैं। अतः राजनयिक कार्यों का दायित्व देश में स्थित सरकार और उसके विदेश में स्थित सेवकों द्वारा लगभग समान रूप से वहन किया जाता है। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि किसी देश को दूसरे देश के साथ सम्बन्धों में विद्वत्तापूर्ण विदेश नीति तथा निपुण, योग्य, कुशल एवं विद्वत्तापूर्ण राजनय के मध्य उचित सामंजस्य बैठाना ही पड़ता है। एक के उचित स्वरूप के अभाव में दूसरे का स्वरूप निश्चित ही विकृत हो जायेगा।

5.3.2 एक-दूसरे के विरोधी

जहाँ विदेश नीति तथा राजनय एक-दूसरे के पूरक हैं, वहीं इनमें विरोध भी है। नार्मन हिल के अनुसार विदेश नीति प्रकृति से ही सत्ता सूचक है जबकि राजनय प्रधानतः क्रियाविधि है। विदेश नीति विदेशों के साथ सम्बन्धों का सार है जबकि राजनय वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विदेश नीति क्रियान्वित की जाती है। पामर और पार्किन्स के शब्दों में एक सार है तो दूसरा उसकी प्रक्रिया सर विक्टर वैलेजली भी दोनों के मध्य अन्तर को स्वीकार करते हैं। इनके मत में "राजनय नीति नहीं, हैं, अपितु यह इस नीति को क्रियान्वित करने का साधन है।" कैनेडा के विदेश मन्त्री लेस्टर पियरसन ने भी एक बार कहा था कि "राजनय नीति निर्माण नहीं करती है, यह तो उसका सम्प्रेषण तथा व्याख्या करती है।" मारगेन्थो ने इस अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है "विदेश मन्त्रालय नीति-निर्माण करने वाला अभिकरण है। यह विदेश नीति का मस्तिष्क है, जहाँ बाह्य संसार से अनुभव एकत्रित किये जाते हैं तथा इनका

मूल्यांकन किया जाता है, जहां विदेश नीति निर्धारित होती है, तथा जहां उन आवेगों का निस्सरण होता है जिनका राजनयिक प्रतिनिध वास्तविक विदेश नीति में रूपान्तरण करते हैं। जबकि विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का मस्तिष्क है, राजनयिक प्रतिनिधि इसका आँखें, कान, मुख, अंगुलियां तथा एक प्रकार से इसके भ्रमणशील अवतार है।" मारगेन्थों ने आगे लिखा है कि "राजनयिक प्रतिनिधि केवल आँखें और कान ही नहीं हैं, जो विदेश नीति के तंत्रिका केन्द्र को, इसके निर्णयों के उपादान के लिये बाह्य संसार को घटनाओं की सूचना देते हैं। राजनयिक प्रतिनिधि मुख एवं हाथ भी हैं, जिनके द्वारा तन्त्रिका केन्द्र से उत्पन्न आवेगों का शब्दों एवं कार्यों में रूपान्तरण होता है।" निकलसन भी राजनय और विदेश नीति के मध्य भेद करता है। यदि कोई राजदूत यह समझता है कि वह विदेश नीति को प्रभावित कर सकता है तो वह गलती पर है। राष्ट्रीय सुरक्षा समिति में अमरीकी राष्ट्रपति के विशेष सचिव मैकजार्ज बन्डी (McGeorge Bundy, 1961-66) ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय के समक्ष एक भाषण में कहा था कि "यह प्रदर्शित करना कि विदेश सेवा में भर्ती होकर विदेश सम्बन्धों को प्रभावित किया जा सकता है, गलत है।" एक जर्मन राजदूत का भी यही मत था। उसके अनुसार ऐसे व्यक्ति जल्दी ही निराश हो जाते हैं। प्रायः उनके द्वारा भेजे गये प्रतिवेदन फाईल कर दिये जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के काल में ब्रिटेन स्थित अमेरिकी राजदूत वाल्टर हाईन्स पेज ने अपने प्रतिवेदनों की उपेक्षा पर नाराजगी व्यक्त करते हुए लिखा था कि "वह इतना नाराज है कि वह अपने प्रतिवेदन में लिखेगा कि एक भूकम्प में टेम्स नदी गायब हो गई है, कि एक साधारण नागरिक ने राजा को चूम लिया है और क्रॉमबेल के बुत ने लार्ड सभा पर आक्रमण कर दिया है, जिससे यह तो पता लगे कि वाशिंगटन में कोई इन बातों को नोट करते भी है अथवा नहीं।" परन्तु स्थिति इतनी गम्भीर नहीं है जितना बताई गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका के नई दिल्ली स्थित राजदूत जे.के. गेलब्रेथ ने चीन व संयुक्त संघ पर अपने विचार भेजे जिसपर उसे तुरन्त उत्तर प्राप्त हुआ। गेलब्रेथ ने लिखा है कि अमेरिकी विदेश विभाग ने अपने इतिहास में इतना शीघ्र उत्तर पहले कभी नहीं दिया होगा।"

सर चार्ल्स वेबस्टर ने अपनी पुस्तक "राजनय की कला तथा व्यवहार" (Art and Practice of Diplomacy) में विदेश नीति और राजनय के मध्य अन्तर को स्वीकार किया है। वेबस्टर के अनुसार राजनय "युद्ध कौशल" है तो विदेश नीति "व्यूह रचना"। युद्ध कौशल के अभाव में विदेश नीति भी व्यर्थ है। हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा की एक सफल एवं योग्य राजनय के अभाव में उत्तम, उचित और यथार्थवादी विदेश नीति भी असफल सिद्ध होगी।

राजदूत की योग्यता ही विदेश नीति को सफल बना सकती है। वह संदेश वाहक से कहीं अधिक है। निर्मित विदेश नीति को वह दूसरे के समक्ष कैसे रखता है तथा उसका स्पष्टीकरण कैसे देता है इसी पर उसकी योग्यता और सफलता निर्भर करती है। इस प्रकार वह अच्छी विदेश नीति को सफल व असफल बनाने की क्षमता रखता है। यह बुरी विदेश नीति के बुरे परिणामों को रोकने की भी क्षमता रखता है। एक योग्य और प्रतिभाशाली राजदूत अपने देश को सम्मान दिला सकता है। विदेश नीति को सफलता राजनय के उत्तम प्रयोग पर ही निर्भर करती है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य को अपने वैदेशिक सम्बन्धों में सफलता प्राप्त करनी है तो बुद्धिमत्तापूर्ण निर्धारित विदेश नीति और योग्य, निपुण एवं कुशल राजनय का सम्मिश्रण आवश्यक है।

5.4 राजनय और अंतर्राष्ट्रीय कानून

राष्ट्रों के मध्य राजनयिक सम्पर्क अति प्राचीन काल से विद्यमान हैं। प्राचीन भारत में वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि कालों में ही राजनयिक व्यवस्था संस्थागत रूप धारण कर चुकी थी। यूनान, रोम, मिस्त्र आदि देशों के साहित्य में भी राजनय का विस्तृत वर्णन है। शान्ति वार्ता और युद्ध घोषणा के लिये दूतों को भेजा जाता था। राजदूतों को सम्माननीय स्थान प्राप्त था, उनका स्वागत सत्कार किया जाता था तथा उन्हें कई प्रकार के विशेषाधिकार, सुविधायें एवं उन्मुक्तियाँ दी जाती थी।

रिचार्ड हुकर के अनुसार कानून तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे जो मनुष्य से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित हैं, दूसरे वे जो मनुष्य के मनुष्य रूप में किसी राजनीतिक समाज से जुड़े हुये होने के कारण सम्बन्धित हैं, तीसरे कानून वे हैं जो राज्यों से सम्बन्धित हैं – इन्हें हम राष्ट्रों के कानून का नाम देते हैं। इन्हीं का अध्ययन हमारे विषय की परिधि में आता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे कार्यकारी सिद्धान्त अथवा नियम हैं जो सभ्य, स्वतन्त्र, सार्वभौमिक और स्वशासी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। इनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय संधियां, समझौते व कनवेंशन आदि ऐसे परिणाम हैं। हर राज्य चाहता है कि ये सर्वमान्य हों, यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राज्याध्यक्ष का स्थान उसके अपने व्यक्तित्व के कारण नहीं वरन् राज्य के अध्यक्ष के रूप में होता है। राजदूतों को भेजना, उनका स्वागत करना, संधियों पर हस्ताक्षर करना, युद्ध घोषणा अथवा शान्ति संधि करना उसी का कार्य है। किन्तु उपर्युक्त सभी कार्य वह केवल संवैधानिक मुखिया के रूप में ही करता है। यही कारण है कि राज्याध्यक्ष राजा हो या सम्राट, तानाशाह हो या राष्ट्रपति, इनके मध्य कोई भेदभाव नहीं किया जाता है। ओपनहीम का भी यही मत है। इन्हीं के शब्दों में “अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने सर्व सत्ताधारियों तथा समुदायों के साक्षर वर्गों में राज्यों के सम्बन्धों तथा क्रियाकलापों को व्यवस्थित करने वाले नियमों में बरती गई असावधानी अथवा उनके उल्लंघन के प्रति प्रबल विरोध किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के मध्य पारस्परिक व्यवहार को नियमित एवं संचालित करता है। उक्त कार्यों के सम्पादन में “राजनयिकों की चतुराई तथा निपुणता, उनके दैनिक कार्यों में बहुत कुछ प्रकट होती है और वह किसी भी प्रकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।” द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका तथा मानव विनाश के नये शस्त्रास्त्रों के निर्माण को देखते हुए, अधिकांश प्रबुद्ध व्यक्ति एवं समूह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तौर तरीकों के प्रति फलतः विश्व शान्ति और व्यवस्था की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। आज मानव राष्ट्रीयता के सीमित उद्देश्य को पीछे छोड़ने को तैयार हैं, परन्तु यह सब कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर ही सम्भव है। आज सभी देश इस बात पर एकमत हैं कि राष्ट्रीय हित के समस्त प्राथमिकता प्राप्त पक्ष जिनमें राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक विकास भी सम्मिलित हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राजनय के घनिष्ठतम सम्बन्धों तथा प्रयोगों पर ही निर्भर हैं।

5.5 राजनयिक रणनीति

प्रत्येक देश के राजनीतिक एवं नेतागण अपनी सरकार की विदेश नीति की सामान्य रूपरेखा तैयार करते हैं ताकि विदेश नीति को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके। इस प्रकार एक देश की विदेश नीति एवं राजनयिक रणनीति दो भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों के मध्य स्थित अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ.ए. कीसिंगर (Dr. A. Kissinger) लिखते हैं कि – “शान्ति को सीधे रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह कुछ परिस्थितियों एवं शक्ति सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। राजनय एक गत्यात्मक तत्व है। समय की परिस्थितियों में परिवर्तन के नवीन विकासों के साथ-साथ इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह एक विकासशील धारणा है।

5.6 राजनय का विकास

दो मानव समूहों के सम्बन्धों के व्यस्थित आचरण के रूप में ‘राजनय का इतिहास’ इतिहास से भी पुराना है। इसकी परम्पराएं प्रागैतिहासिक काल के उस अन्धकारपूर्ण युग से प्रारम्भ होती हैं जहां कि स्थिति का ज्ञान केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। 16वीं शताब्दी के सिद्धान्तवादी यह मानते थे कि देवदूत (Angles) ही प्रथम राजनयज्ञ थे क्योंकि वे देवलोक और भूलोक के बीच संवादवाहकों का कार्य करते थे। भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेखित नारद को राजनयज्ञों का पूर्वज माना जा सकता है। इन कल्पनाओं के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य न होने के कारण ये निराधार हैं और इसलिए मान्य नहीं हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान है कि राजनय का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अकेले भटकना छोड़कर समूहों अथवा गिरोहों में साथ रहना प्रारम्भ किया होगा। इन आदि मानव समूहों के सदस्यों को एक समय समझ आ गई

कि यदि वे अपने शिकार को सीमाओं के सम्बन्ध में पड़ोसी समूह से समझौता कर लें तो लाभप्रद रहेगा। इस प्रकार की सीमा सम्बन्धी परम्पराएं पशु संसार में भी वर्तमान हैं। छोटे पक्षी भी इसका अनुगमन करते हैं। तत्कालीन गिरोहों के बीच आपसी विवाद और शत्रुतापूर्ण भावनायें भी रहती होंगी। इनके निराकरण के लिए वे यदा-कदा सन्धि-वार्ता या दोनों पक्षों की हित वार्ता करते होंगे। इसके लिए दूसरे समूहों की सीमा में दूत भेजने का प्रचलन हुआ होगा। शीघ्र ही वे आदि मानव समझ गये होंगे कि यदि विरोधी पक्ष के दूत अपनी सीमा में आते ही मार दिया गया तो सन्धि वार्ता सन्तोषजनक रूप से नहीं हो सकती। अतः यह निश्चय किया गया होगा कि एक दूसरे के दूतों को कोई क्षति नहीं पहुंचाई जाये और सन्धि वार्ता तक उनकी पूर्ण रक्षा की जाये। इस प्रकार राजनयिक उन्मुक्तियों के सिद्धान्त का जन्म हुआ। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में, मनु के उपदेशों में तथा होमर की कविताओं में हमें इन उन्मुक्तियों का परिचय मिलता है। समय के साथ-साथ दौत्य पद के विभिन्न अधिकार बढ़ते गये। दूतों एवं सन्धिकर्त्ताओं को अनतिक्रम्य माना जाने लगा।

आदिकालीन समाजों में सभी विदेशियों को खतरनाक तथा दूषित माना जाता था। अतः अन्य समाज की सीमा में प्रवेश पाने से पूर्व उसका विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शुद्धिकरण कर दिया जाता था। ये प्रक्रियायें अत्यन्त विचित्र और कष्टदायक हुआ करती थीं, जैसे अग्नि की लपटों में होकर निकलना या नाचना, जादू-टोने से शुद्धिकरण आदि इस परम्परा के अवशेष कुछ समय पूर्व तक प्राप्त होते हैं। 15वीं शताब्दी में वेनिश गणराज्य ने उन स्वदेशवासियों को मृत्यु की धमकी दी जो विदेशी दूतावासों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क रखते थे। शुद्धिक्रिया के झंझटों तथा कष्टों से बचाने के लिए यूनान में दूतों को देवता हरमेस के संरक्षण में माना जाने लगा और इस प्रकार दौत्यकर्म को धर्म का चोंगा पहना दिया गया धार्मिक भावना के प्रभाव से दूत का व्यक्तित्व रक्षणीय एवं अनतिक्रम्य बन गया। प्रो. ओपनहोम के कथनानुसार, "पुरातन काल में भी जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी विधि का पता नहीं था, राजदूतों की विशेष रक्षा की जाती थी तथा उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। वे उन्हें किसी विधि के कारण नहीं वरन् धर्म के कारण प्राप्त थे और राजदूतों को अनतिक्रम्य माना जाता था। दूतों को हरमेस देवता का संरक्षण दौत्यकर्म की प्रतिष्ठा के लिए दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ। दूत को छल से भरा हुआ समझा जाने लगा क्योंकि हरमेस अपनी चालाकी तथा छलछद्म के लिए प्रसिद्ध था। ऐतिहासिक काल में राजनय का जन्म यूरोप में आधुनिक राज्यों के जन्म से सम्बद्ध है। 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के बीच आधुनिक राष्ट्र राज्यों का विकास हुआ है। इनके साथ-साथ राजनय भी आधुनिक अर्थ में विकसित हुई। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यवसाय के रूप में राजनय का प्रारम्भ तथा स्थायी राजदूतों एवं मन्त्रियों की नियुक्ति पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में होने लगी थी। 1815 की वियना कांग्रेस में राजनय को दूसरे व्यवसायों की भांति एक पृथक व्यवसाय की मान्यता दे दी गई।

राजनय के दो अंग हैं – राजनीतिक आचार (Diplomatic Practice) तथा राजनयिक सिद्धान्त (Diplomatic Theory)। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। नए राजनयिक आचारों से राजनयिक सिद्धान्त के क्रमिक विकास का विवेचन करेंगे।

राजनयिक सिद्धान्त का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार एवं सन्धि-वार्ता के सिद्धान्तों एवं तरीकों के स्वीकृत विचार से है। राजनैतिक सिद्धान्त के अतीतकालीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसके विकास की गति हमेशा प्रगति की ओर नहीं रही है। अनेक बार इसका विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा वह अवनति की ओर भी अग्रसर होने लगता है। प्रो. मोवेट ने यूरोपीय राजनयिक सिद्धान्त के विकास को तीन कालों में वर्गीकृत किया है :-

(क) 476 से 1476 तक का काल – इस काल में राजनय पूर्णरूपेण असंगठित था।

(ख) 1476 से 1914 तक – इस काल में राजनयिक सिद्धान्त ने यूरोपीय राज्य व्यवस्था की नीति का अनुसरण

किया। इस समय का राजनय यूरोप तक ही सीमित रहा।

(ग) 1914 से आज तक का काल – राष्ट्रपति विलसन ने अपनी घोषणा में कहा था कि संसार में प्रजातंत्रवाद का उदय हो गया है। फलतः इस युग में विकसित राजनय को प्रजातंत्रात्मक राजनय कहा गया।

हेरल्ड निकल्सन आदि कुछ विचारक राजनयिक सिद्धान्त के विकास को इस प्रकार कालक्रमों में विभाजित करने से सहमत नहीं हैं। वे इसके विकास को निरन्तरतापूर्ण मानते हैं। राजनयिक सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीय कानून से काफी प्रभावित रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता हालैण्ड निवासी ह्यू ग्रोशियस (Hugo Grotius) था। इसने 1625 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ (The Law of War and Peace) में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्यक विवेचन किया है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा में उन सभी आचरणों को लिया था जिनका पालन सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में करते हैं। इस प्रकार राजनय भी इसका एक अंग बन जाता है।

प्रागैतिहासिक काल में राजनयिक सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में अनुमान है कि आरम्भ में व्यक्ति जातिगत एवं गिरोहगता भावना से प्रभावित था। वह अपनी जाति अथवा गिरोह के हितों की सिद्धि के लिए दूसरी जाति या गिरोह के हितों का किंचित मात्र भी ध्यान नहीं रखता था। क्रमशः परिस्थितियाँ बदलने पर उसके संकीर्ण दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब वह अन्तर्जातीय एवं उभयपक्षीय अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहने लगा। जातियों एवं गिरोहों में पारस्परिक सुरक्षा की भावना बाद में विदेश नीति को प्रभावित करने लगी। इसी के फलस्वरूप राजनय के सिद्धान्तों का भी स्फुरण हुआ। निकल्सन के कथनानुसार “राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति निषेधक, जातिगत या वर्गगत अधिकारों को संकुचित भावना से अभिव्यापक साधारण हितों की विषय भावना की ओर हुई है।” राजनयिक सिद्धान्त के विकास का अध्ययन निम्नलिखित कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

5.6.1 यूनानी काल – भारत के समान यूनान भी प्राचीन काल में सभ्यता और संस्कृति का गढ़ रहा है। यद्यपि आज का यूनान भारत के समान अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का उपासक नहीं है फिर भी आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता को प्रभावित करने में यूनान की प्राचीन सभ्यता ने काफी योगदान दिया है। राजनयिक सिद्धान्त के विकास में भी उसका महत्त्वपूर्ण योगदान समस्त पाश्चात्य जगत स्वीकार करता है।

यूनानी लोग अपने को एक सभ्य जाति कहते थे तथा अपनी जाति का नाम हेलेन (Hellen) रख रखा था। अन्य जातियों को वे जंगली, असभ्य, हीन जातियाँ समझ उन्हें बारबेरस (Barbarys) पुकारते थे। समस्त यूनान में एक ही जाति थी तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति एक होने के कारण उनमें एकता स्थापित थी पर राजनीतिक दृष्टि से यूनान छोटे-छोटे नगर-राज्यों में बंटा था यद्यपि इन राज्यों में परस्पर युद्ध भी होते थे पर युद्धों में भी वे मानवता से नीचे नहीं गिरते थे। इन राज्यों में “युद्ध और शान्ति” के कालों में कैसा सम्बन्ध रहे इसके लिये वे सम्मेलन कर निश्चित नियम बनाते थे।

आधुनिक समय में जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं और विभिन्न राज्य पारस्परिक समस्याओं का निदान खोजते हैं उसी प्रकार यूनानी नगर राज्य सम्मेलन किया करते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के समान ही उनकी क्षेत्रीय परिषद या सम्मेलन था। ये सम्मेलन यूनानी नगर राज्यों में घनिष्टता पढ़ाने के साधन थे। यूनानी भौगोलिक दृष्टि से पास-पास बसे थे तथा उनमें सांस्कृतिक एकता भी थी। अतः इन सम्मेलनों में सहयोग एवं सद्भावना का वातावरण व्याप्त रहता था। यूनान के क्षेत्रीय सम्मेलनों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। “उनका एक स्थायी कार्यालय होता था। जिसका मुख्य कार्य था पुण्य स्थानों की रक्षा करना, कोषों की रक्षा करना, तीर्थ यात्रियों के आवागमन की सुविधाओं की व्यवस्था करना तथा विभिन्न नगर राज्यों के बीच राजनीतिक मामलों पर विचार-विमर्श करना एवं आवश्यक कार्यवाही करना। इस प्रकार यूनानी अपने सामान्य हितों की रक्षा करने में महत्त्वपूर्ण राजनयिक कार्य करते हुये राजनयिक पद्धति के जन्मदाता बने।” इन सम्मेलनों को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। ये अधिकार आज की भाषा में “राज्य क्षेत्रातीत अधिकार अथवा राजनयिक विशेषाधिकार” कहे जाते हैं। सम्मेलन के सदस्य राष्ट्र

यह स्वीकार कर लेते थे कि युद्ध काल में एक दूसरे का विध्वंस नहीं करेंगे तथा उनके जल-साधनों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालेंगे। इस समझौते का उल्लंघन करने वाला राज्य अन्य राज्यों का कोपभाजन बनता था और उसे उनके आक्रमण का सामना करना पड़ता था एवं दण्ड भुगतना पड़ता था। क्षेत्रीय परिषद की दण्डात्मक कार्यवाही का उल्लेख एवं दृष्टान्त यूनानी इतिहास में मिलते हैं। राजनयिक सिद्धान्त के विकास में यूनानियों का विशेष स्थान रहा है। यूनानी क्षेत्रीय परिषदें अन्त में असफल हुईं। उसकी असफलता के कारण दो थे – “प्रथम तो ये परिषदें व्यापक नहीं थी और बहुत शक्तिशाली राज्य उससे बाहर थे।” दूसरे “उनके पास इतनी शक्ति न थी कि वे अपने निर्णयों को शक्तिशाली राज्यों से पालन कर सकती।” (They did not possess sufficient corporate force to enable them to impose their rulings upon the stronger powers.) राष्ट्र संघ के कर्णधारों ने इन परिषदों की असफलता से कोई सबक नहीं ग्रहण किया और उसका भी वहीं हाल हुआ जो इन परिषदों का हुआ था।

इतना होने पर भी यूनानी परिषदों ने उस हिंसक काल में भी कुछ काल तक शान्ति का राज्य स्थापित किया। उन्होंने पंच-निर्णय के सिद्धान्त की व्यवस्था कर भावी पीढ़ी के लिये राजनय के मार्ग का दरवाजा खोले रखा। स्पार्टा के राजा आर्चिडेमस का नाम उल्लेखनीय है जिसने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि “पंच निर्णय को मानने वाले राज्य को दोषी न ठहराया जा सकेगा। दोषी वह होगा जो इसको स्वीकार न करेगा।”

इन परिषदों की असफलता का परिणाम पुनः युद्ध का भड़कना हुआ “सहयोग के स्थान पर पराधीनता का बोलबाला हुआ।”

5.6.2 रोमन काल

यूनान के पतन के बाद रोमन काल आया। रोमन शक्ति के पुजारी थे। उन्होंने सैनिक शक्ति को बढ़ाकर एक विशाल राज्य की स्थापना की तथा अराजकता के स्थान पर शान्ति की स्थापना की। हेरल्ड निकलसन ने रोमनों की बड़ी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि “रोमनों ने राजनयिक सिद्धान्त के विकास में बहुत महत्वपूर्ण सहयोग दिया, उन्होंने छल और चापल्य का स्थान आज्ञापालन एवं संगठन को दिया व अराजकता के स्थान पर शान्ति का अभ्यास किया।” निकलसन का यह मत विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि रोमन काल में राजनयिक सिद्धान्त को कोई विकास नहीं हुआ बल्कि वह काफी पीछे हट गया। यदि पीछे कदम बढ़ाना ही विकास है तो निकलसन की बात मानने योग्य है।

रोमन साम्राज्य में सैनिक शक्ति के आधार पर व्यवस्था, अनुशासन, आज्ञा-पालन, शान्ति और संगठन की भावना स्थापित की थी। इनका राजनयिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं। इसके विपरीत साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ने उस समय स्वस्थ राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति पर रोग लगा दी और उसे आगे नहीं बढ़ने दिया। आलोचकों का यह भी कहना है कि यदि हम यह मान लें कि सैनिक शक्ति के बल पर शान्ति की स्थापना राजनयिक सिद्धान्त को विकसित करता है तो प्रत्येक साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का शासक साम्राज्य बढ़ाने लगेगा और यह दावा करेगा कि वह शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना राजनयिक सिद्धान्त को बढ़ावा देने के लिए कर रहा है। निकलसन का सिद्धान्त साम्राज्यवाद और सैनिकवाद को बढ़ावा देने वाला है। वास्तविकता यह है कि रोमन साम्राज्य ने स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर विकसित होने वाले राज्यों की प्रगति में रोड़ा अटकाया और उन्हें दासता की जंजीरों में बांध उनके साथ अन्याय किया।

रोमन साम्राज्य से पड़ोसी राज्य सदैव भय खाते रहते थे। उनके साम्राज्य के सम्बन्ध शेर और बकरी जैसे थे। उनमें समता, प्रेम, सहयोग की भावना न थी, बल्कि भय, आतंक एवं दासता की भावना थी। उनकी स्वतन्त्रता पर सदैव “डेमाक्लोज की तलवार” लटकी रहती थी। निकलसन ने रोमन साम्राज्य की विशालता को देखकर शायद उसकी प्रशंसा की हो। वह समझता हो कि विश्व राज्य की जो कल्पना आज लोग लगा रहे हैं, रोमन साम्राज्य उसे

प्राप्त करना चाहता था। पर विश्व साम्राज्य और विश्व राज्य के गुणों में महान अन्तर है। साम्राज्य के अंग और एक संघ के अंग कैसे समता रख सकते हैं। रोमन साम्राज्य के विकास में चर्च ने भी सहयोग दिया था। वह समस्त ईसाई जगत को जोड़ने और सब में प्रेम-भाव भरने का दावा करते थे पर आज तक भय और आतंक के पीछे प्रेम और एकता कभी स्थापित न हो सकी है। अतः वह पवित्र साम्राज्य भी कुछ समय बाद बिखर गया।

राजनयिक सिद्धान्त के विकास में तो रोमन साम्राज्य ने कोई सहयोग नहीं दिया बल्कि उसे सदियों पीछे धकेल दिया। पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अवश्य जन्म देकर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

5.6.3 बाइजेन्टाइन साम्राज्य काल

कुस्तुन्तुनिया को केन्द्र मानकर बाइजेन्टाइन साम्राज्य की स्थापना की गयी थी। रोमन साम्राज्य के समान यह अपनी शक्ति बनाये रखने के लिये सैनिक शक्ति पर आधारित नहीं रह सकता था क्योंकि उसके चारों ओर असभ्य और बर्बर जातियां निवास करती थी। अतएव उसने अपनी सुरक्षा के लिये कूटनीति से काम लिया। उसने बर्बर जातियों को शक्तिहीन बनाने के लिए छल, प्रपञ्च, प्रलोभन तथा धर्म-प्रचार का सहारा लिया। वह किसी जाति को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेता, उनमें परस्पर फूट डाली तथा धर्म परिवर्तन कर अनैतिकता का प्रचार किया। इस पर निकलसन का कहना है कि "इस प्रकार राजनय की नैतिकता एवं सहयोग की भावना का अन्त हो गया तथा उसके स्थान पर अनैतिकता, छल-कपट और विध्वंसक भावनाओं का प्रभाव बढ़ा। राज्यों के आपसी सम्बन्ध, ईमानदारी और पवित्रता जाती रही तथा अनैतिकता, छल-कपट और विध्वंसक भावनाओं का प्रभाव बढ़ा। राज्यों के आपसी सम्बन्ध, ईमानदारी और पवित्रता जाती रही तथा कूटनीति व्यवहार बढ़ गया। लालच, फूट, दुराग्रह, धोखेबाजी आदि दुर्गुण राजनयिक सम्बन्धों का आधार बन गये।"

5.6.4 मध्य युग (The Middle Ages)

मध्य युग के प्रारम्भ काल में यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था प्रचलित हुई। एक साम्राज्य में अनेक सामन्त होने लगे। सम्राट की शक्ति क्षीण हो गयी और सामन्त अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वशक्तिशाली बन गये। सामन्त का क्षेत्र एक पृथक राज्य के समान हो गया। उस राज्य के निवासी अपनी निष्ठा सम्राट के स्थान पर अपने सामन्त में रखने लगे। सामन्तवादी व्यवस्था में पुनः युद्ध चलने लगे। 14वीं शताब्दी में सामन्तवादी व्यवस्था के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई पर युद्धों का तांता न टूटा। युद्ध की स्थिति में राज्य शक्ति के लिये तरसने लगे। इसके अतिरिक्त यह काल वाणिज्य व्यापार का काल था अतः शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का जोर बढ़ा।

मध्य युग में राजनय के सम्बन्ध में 5 सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये – (1) सभी राज्य एक परिवार के सदस्य हैं, (2) यह परिवार एक कानून या नियम द्वारा संचालित होता है जो समस्त सदस्यों पर पारस्परिकता के आधार पर लागू होता है, ऊपर से जबरन नहीं थोपा जाता, (3) व्यवहार में इस नियम को वास्तव में क्रियान्वित किया जाता है, (4) सदस्यों के आपसी मनमुटाव यथासम्भव शान्तिपूर्वक सुलझाये जायें। यदि सभी शान्तिपूर्ण उपाय असफल हो जायें तो युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है, (5) राजनय खुला हुआ, स्पष्ट तथा प्रजातन्त्रात्मक होना चाहिये।

निकलसन का कहना है कि मध्य युग के प्रारम्भ में राष्ट्रीय राज्यों ने बाइजेन्टाइन साम्राज्य मनोवृत्ति को इटली के नगर-राज्यों से प्राप्त किया था अतः उस समय राजनय का स्तर ऊँचा नहीं था। इसके प्रमुख कारण दो थे –

(अ) उस समय अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए कूटनीति जो निम्न स्तर की थी, काम में लायी जाती थी। दूसरे देशों की दुर्बल बनाने के लिये उनमें विद्रोह कराये जाते थे। उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाता

थां विद्रोहियों को धन दिया जाता था, जातियों और दलों में फूट डाली जाती थी आदि। लोगों की नैतिक भावना भी बदल गयी थी। राष्ट्रहित में झूठ बोलना, धोखा देना तथा चोरी करना भी अनैतिक नहीं माना जाता था। उस काल में एक राजदूत को सम्माननीय गुप्तचर (Honourable spy) माना जाता था। राजदूत यह विश्वास करता था कि व्यक्तिगत नैतिकता और लोक नैतिकता अलग-अलग वस्तुएँ हैं। उनका यह भी विश्वास था कि कार्यालय में झूठ बोलना (Official lie) व्यक्तिगत झूठ बोलने से भिन्न है। ये राजदूत विदेशों में बात को घुमा-फिराकर रखने में कोई अनुचित बात नहीं समझते थे। जेम्स प्रथम के काल में हैनरी वाटन ने जो एक राजदूत था, राजदूत की परिभाषा इस प्रकार दी “राजदूत एक ईमानदार मनुष्य है जो अपने देश की भलाई के लिये दूसरे देश में झूठ बोलने के लिये भेजा गया है।” हेनरी वाटन की यह बात उसके किसी शत्रु ने जेम्स प्रथम तक पहुँचाई। जेम्स को बड़ा दुःख हुआ और उसने फिर हेनरी वाटन को कोई कार्य नहीं दिया। निकलसन कहता है कि यह बात हैनरी ने मनोविनोद के लिये कही थी। फिर इस बात से यह तो आभास मिलता ही है कि जनता राजदूत के विषय में क्या सोचती होगी।

(ब) दूसरा कारण यह था कि इटली निवासी मैक्यावली ने अपनी पुस्तक प्रिन्स (The Prince) 1513 में लिखी। ‘प्रिन्स’ में मैक्यावली राजकुमार को कुछ उपदेश रोचक भाषा में देता है। यह ग्रन्थ शीघ्र ही यूरोप भर में लोकप्रिय बन गया। मैक्यावली के राजकुमार को उपदेश राजनय में भी प्रयुक्त होने लगे। यह उपदेश वास्तव में राजनय को बदनाम करनेवाले सिद्ध हुये। उसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :-

“जब किसी राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो, तो वहाँ न्याय या अन्याय, उदार या निष्ठुर, गौरवपूर्ण या लज्जास्पद क्या है, इसका विचार नहीं होना चाहिये, इसके विपरीत स्वतन्त्रता बनाये रखना तथा जीवन रक्षा करने के साधन के अतिरिक्त प्रत्येक चीज की अवहेलना की जानी चाहिये।”

“तुम्हें यह अवश्य जान लेना चाहिये कि लड़ने के दो तरीके हैं, एक विधि या कानून द्वारा, दूसरा शक्ति द्वारा। पहला ढंग मनुष्यों का है, दूसरा पशुओं का, किन्तु चूँकि पहला ढंग प्रायः यथेष्ट नहीं होता, इसलिये दूसरा ढंग अपनाना आवश्यक हो जाता है।”

“उन राजाओं ने बड़े कार्य किये हैं, जिन्होंने चालाकी और विश्वासघात के सहारे दूसरों को भ्रमित कर दिया है। इसलिये किसी दूरदर्शी शासक को कभी वचनों का पालन नहीं करना चाहिये, जिन्हें निभाने से उसके हितों की हानि होती है, विशेषकर उस समय जबकि वचनबद्ध होने के कारण समाप्त हो चुके हो। यदि सब मनुष्य अच्छे होते तो यह शिक्षा अच्छी न होती किन्तु चूँकि वे बुरे हैं और विश्वास निभाने को तैयार नहीं, इसलिये तुम भी विश्वास पालन के लिये बाध्य नहीं हो।”

मैक्यावली के उपदेश समयानुकूल थे। उस समय राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी विकट थी। युद्ध की निरन्तरता, राजनीतिक अस्थिरता, फूट और अराजकता इटली में व्याप्त थी। यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार मैक्यावली के उपदेश उपयोगी थे पर उससे राजनय बदनाम हो गया। राजनय में नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, ईमानदारी के स्थान पर छल-कपट, धोखेबाजी, सत्य के स्थान पर झूठ, विश्वास पालन के स्थान पर विश्वसघात आदि बातें घुस गयीं।

5.6.5 वर्तमान काल

मध्यकाल के अन्तिम दिनों में राष्ट्रीयता की भावना यूरोप भर में व्याप्त हो गयी। औद्योगिक उन्नति के कारण वाणिज्य-व्यापार का प्रसार हुआ। यूरोप के राज्य अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण नये प्रदेशों की खोज करके वहाँ बसने लगे। राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होने लगे। निकलसन ने कहा है कि “यह व्यापार तथा वाणिज्य ही के द्वारा लोगों ने प्रथम बार अनुभव किया कि एक दूसरे के

प्रति उन्हें बुद्धि से काम लेना चाहिये।”

इस युग में राजनय के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन हुये। विशेषकर दो राजनयिक सिद्धान्त उभर कर सामने आये।

(क) नैतिक सिद्धान्त अथवा दुकानदार सिद्धान्त

(ख) राष्ट्रवादी सिद्धान्त या यौद्धा सिद्धान्त

(क) नैतिक सिद्धान्त – नैतिक सिद्धान्त के समर्थक अधिकांश इंग्लैण्डवासी थे। उनका विश्वास था कि समाजिक सम्बन्धों में जिस प्रकार नैतिकता का महत्त्व होता है उसी प्रकार राज्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना में नैतिकता की आवश्यकता होती है। निकलसन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि “नैतिक राजनय अन्ततः अधिक प्रभावशाली होता है और अनैतिक राजनय स्वयं अपने उद्देश्यों में पराजित होता है।” के.एम. पनिकर के मतानुसार “छलकपटपूर्ण राजनय एक देश को लक्ष्य प्राप्त करने में कदाचित ही सहायता करता है।”

नैतिक राजनय के समर्थक अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए चार साधन अपनाने का दावा करते हैं – तुष्टीकरण, अननय, समझौता तथा साख।

नैतिक सिद्धान्त के मानने वालों का लक्ष्य “राष्ट्र-कल्याण तथा व्यापार वृद्धि” होता है। नैतिक सिद्धान्तवादी यह विश्वास रखते हैं कि जब दो प्रतिद्वन्द्वी आमने-सामने हों तो संघर्ष करने के स्थान पर दोनों को समझौता कर लेना चाहिये अन्यथा दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। प्रत्येक विवाद का एक मध्यबिन्दु होता है। यदि उसे खोज निकाला जाये तो विवाद का अन्त हो सकता है। इस मध्यबिन्दु को पाने के लिये खुला विचार-विमर्श, सत्य-व्यवहार, पारस्परिक आदान-प्रदान आदि साधन प्रयुक्त किये जाने चाहिये। नैतिक विचारधारा को दुकानदार की विचारधारा भी कहा जाता है।

(ख) राष्ट्रवादी सिद्धान्त – यूरोप के अधिकांश निवासी नैतिक विचारधारा के विपरीत राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थक हैं। उनका कहना है कि नैतिकता का सिद्धान्त भले ही सामाजिक जीवन में या व्यक्तिगत जीवन में महत्त्व रखता है पर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में वह सर्वथा अनुपयुक्त है। उनका कहना है कि प्रत्येक राज्य के कुछ स्वार्थ एवं हित होते हैं। उसे अपने स्वार्थों की सिद्धि में निरन्तर लगा रहना चाहिये। अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये उन्हें नैतिकता अथवा अनैतिकता के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिये। यह सिद्धान्त “यौद्धा सिद्धान्त” भी कहलाता है। इस सिद्धान्त को पालन करने करने से एक विशेष लाभ यह होता है कि देश की जनता में आज्ञा पालन, बलिदान और अनुशासन की भावना प्रबल हो जाती है। इस विचारधारा के मानने वाले शक्ति राजनीति में विश्वास रखते हैं। वे राष्ट्रीय गौरव, प्रतिष्ठा, अग्रत्व, यथास्थिति एवं स्वाभिमान से प्रभावित होकर व्यवहार करते हैं। “उनके विचार से सन्धि-वार्ता सफल होती है तो विजय मिलती है अन्यथा पराजय।

एक विचार यह भी है कि सन्धि की याचना करने वाला पक्ष दुर्बल होता है, अतः दूसरा पक्ष इस दुर्बलता का लाभ उठाने के लिए प्रत्येक प्रकार का छल-फरेब, धोखाधड़ी तथा प्रपञ्चों का जाल बुनकर दूसरे पक्ष पर पूर्ण तरह विजय पाना चाहता है। वह सन्धि-वार्ता को युद्ध का अंग समझ युद्ध की समस्त तकनीक उसमें प्रयुक्त करना चाहता है जैसे आक्रमण करना, कपटपूर्ण पीछे हटना, धमकी देना, दबाव डालना, शक्ति प्रदर्शन करना एवं निर्दयता दिखाना आदि इस प्रकार “राष्ट्रवादी विचारधारा” “यौद्धा विचारधारा” है। अपने हित के समर्थन में हर प्रकार की अनैतिकता को अपनाने में वे हिचकते नहीं। वे नैतिकता को दुर्बलता का प्रतीक मानते हैं। एक शक्तिशाली राज्य को समझौते एवं नैतिकता निभाने में समय नष्ट नहीं करना चाहिये। उसे युद्ध का मार्ग अपनाना चाहिये और दुर्बलों की दुर्बलता से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद की विचारधारा के विपरीत है जबकि नैतिक विचारधारा में अन्तर्राष्ट्रीयवाद की झलक दिखाई देती है।

आजकल का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। वैज्ञानिक आविष्कार एवं तकनीकी प्रगति के इस युग में

नैतिक विचारधारा ही उपयुक्त और महत्वपूर्ण है। आजकल राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना में नैतिक विचारधारा का ही अधिक प्रभाव कार्य कर रहा है। प्रत्येक राज्य अपने पक्ष के समर्थन तथा विरोधियों की आलोचना में नैतिक तर्क ही उपस्थित करता है। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की कसौटी नैतिकता ही मानी जाती है। जो राष्ट्र नैतिकता के नियमों की अवहेलना करता है उसके विरुद्ध विश्व जनमत हो जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनय का इतिहास व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित सीमाओं से होता हुआ क्रमशः राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होता है। अतः “अन्य काल में राजनय के विकास में जिन तत्त्वों को प्रोत्साहन मिला वे ये थे – अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य व्यवसाय का प्रसार, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता का अधिकाधिक प्रभाव, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधिकाधिक मान्यता आदि।” निकलसन के मतानुसार “राजनय पर धर्म का नहीं वरन् सामान्य ज्ञान (Commonsense) का निर्णयकारी प्रभाव रहा है।”

5.7 राजनय के लक्ष्य

राजनय का प्रमुख लक्ष्य है कि राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिये शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग किया जाये। यदि कोई राष्ट्र अपने हित की पूर्ति के लिये युद्ध का सहारा लेता है तो उसका राजनय असफल रहा है। भारतीय विचारक चाणक्य का मत है कि “राज्य आदर्शों को लक्ष्य मानकर नहीं चलता है वरन् राज्य के लिए वास्तविक सफलता प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य होता है। नीति की सफलता उसके द्वारा प्राप्त होने वाले फल पर निर्भर है। के.एम. पन्निकर का कहना है कि “एक राजनयज्ञ का मुख्य कार्य अपने देश का नाम ऊँचा रखना है, इसके लिये आदर भाव बनाना तथा इसके प्रति सद्भावना पैदा करना है।” विचारकों ने राजनय के लक्ष्य निम्नलिखित बताये हैं :-

5.7.1 राष्ट्रीय हितों की रक्षा

राजनय का प्रमुख लक्ष्य यह है कि वह किसी न किसी उपाय से अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करे। राष्ट्रीय हितों के अन्तर्गत – सीमाओं की रक्षा करना, आर्थिक हित के लिये व्यापार की वृद्धि करना तथा विदेशों में बसे राष्ट्रकों की रक्षा करना आदि। आजकल प्रत्येक देश अपनी संस्कृति एवं जीवनयापन के तरीकों को भी दूसरे देशों में प्रचार का इच्छुक रहता है क्योंकि यह संसार की नजरों में सम्मान प्राप्त करना चाहता है तथा अन्य देशों से सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है।

5.7.2 राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की रक्षा करना

प्रत्येक राज्य चाहता है कि उसकी प्रादेशिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता बनी रहे और उनका अतिक्रमण न हो अतः इसी उद्देश्य से वह अन्य देशों में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। दूसरे देशों में बैठा राजनीतिक प्रभाव बढ़ाकर उसके देश की राजनीतिक शक्ति रणकौशल के महत्व के क्षेत्र पर नियन्त्रण करके आर्थिक दबाव एवं राजनीतिक प्रभाव बढ़ाकर उसके देश की सुरक्षा के लिये खतरा न पैदा कर दे। वह ऐसी अवस्था में अपने देश के राजननीतिज्ञों को उक्त देश की गतिविधियों से सूचित कर देता है और उक्त देश की नीतियों पर रोक लगा देने का प्रबन्ध करता है।

5.7.3 मित्रों से सम्बन्ध बढ़ाना और शत्रुओं को तटस्थ बनाना

राजनीतिक क्षेत्र में मित्रता और शत्रुता स्थायी नहीं होती है। राष्ट्रीय स्वार्थ के आधार पर शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु बनते देर नहीं लगती। राजनय का एक लक्ष्य यह भी है कि मित्र राष्ट्रों में लगातार वह मित्रता को बढ़ाता रहे, गलतफहमियों को दूर करता रहे, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अधिक से अधिक मित्र बनाता रहे। संधि और समझौते द्वारा अपने पक्ष को प्रबल करता रहे। शत्रु देशों में भी एक ओर वह उन्हें तटस्थता की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। और दूसरी ओर अपने मित्रों में उसके विरुद्ध भय का संचार करता है। कम से कम शत्रु जिस देश के होंगे उसका राष्ट्रीय सम्मान बढ़ेगा और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका प्रभाव बढ़ेगा यह सब राजनय की सफलता पर आधारित है।

5.7.4 विरोधियों के गठबन्धन को रोकना

राजनय द्वारा मित्रों की संख्या बढ़ाना तो आवश्यक है साथ में यह भी देखना आवश्यक है कि अपने देश के विरोधी राष्ट्र आपस में गठबन्धन न कर लें। विरोधियों की शक्ति बढ़ना देश के लिये खतरा होगा अतः उसके लिये विरोधियों में कुछ के साथ समझौता करके उन्हें गठबन्धन से अलग करना होगा, कुछ राज्यों को समर्थन देकर निष्पक्ष करना होगा और कुछ राज्यों का समर्थन एवं सहायता देना बन्द करना होगा जो दाता राज्य के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। यदि इस प्रकार के सभी उपाय सफल न हों और शक्ति का प्रयोग करना ही आवश्यक हो जाये तो यह कार्य सर्वाधिक लाभप्रद परिस्थितियों में ही किया जाये और इस प्रकार किया जाये कि विश्व के अन्य देश यह अनुभव करें कि वह न्याय के पक्ष में हथियार उठा रहा है और उसका लक्ष्य अपने अधिकारों की रक्षा करना मात्र है। युद्ध की अवस्था में यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि कौनसा पक्ष आक्रमणकारी है और कौनसा पक्ष नहीं। क्योंकि प्रत्येक पक्ष यहीं दावा करता है कि वह रक्षात्मक युद्ध कर रहा है। राजनय की सफलता इसी बात में निहित है कि यह दावा संसार स्वीकार करते हैं।

5.7.5 युद्ध का संचालन

युद्ध को बुरा बताकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वह तो अपरिहार्य है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही युद्धों को रोकने का प्रयास चल रहा है पर अभी तक उसमें सफलता नहीं मिल पायी है। आज भी यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक तथ्य है। प्राचीन काल से ही शक्तिशाली राज्य युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में अपनाते रहे हैं। कमजोर और दुर्बल राज्य युद्ध का जोखम उठाने से डरते हैं। वे अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने के लिये राजनय का प्रयोग करते हैं और राजनयिक तरीके से अपने अनुकूल परिस्थितियां पैदा कर लेते हैं। यदि युद्ध आवश्यक बन जाये तथा सन्धिवार्ता के सभी साधन असफल हो जाये तो राजनय के दायित्व का रूप बदल जाता है। युद्ध काल में भी प्रभावशाली राजनय का महत्व है। के.एम. पनिक्कर के अनुसार, “प्रभावशाली राजनय के बिना न तो युद्ध लड़े जा सकते हैं और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत राजनयिक तैयारियां एवं युद्धकाल में प्रभावहीन राजनय एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र की हार एवं विनाश का कारण बन जाता है।”

5.7.6 आर्थिक विकास

वह समय बीत चुका है जब राजनय का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक ही था। समय के परिवर्तन के साथ राजनीति से भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति भी महत्व रखती है। इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य आर्थिक, व्यवसायिक और वाणिज्य के होते हैं। किसी भी देश का आर्थिक विकास उस देश की समृद्धि के लिये आवश्यक है, इसीलिये राजनय आर्थिक विकास की प्राप्ति में संलग्न रहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राजनय विभिन्न प्रयास करता है। जैसे उद्योगों की उत्तरोत्तर वृद्धि, कच्चे माल की प्राप्ति, निर्मित माल के लिये बाजारों की प्राप्ति, प्रतियोगिता की समाप्ति, एकाधिकार बनाये रखने के प्रयत्न, आर्थिक जासूसी आदि। पनिक्कर आर्थिक विकास के राजनय को व्यापारिक राजनय की संज्ञा देता है। आधुनिक जगत में निरन्तर जटिल परन्तु महत्वपूर्ण होता जा रहा है। यही कारण है कि सामान्य राजदूत, विशिष्टीकरण के युग में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता और वाणिज्य दूतों आदि की नियुक्ति आज राजनय का एक आवश्यक अंग बन गया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद शीत युद्ध के काल में महाशक्तियों ने आर्थिक और व्यापारिक राजनय का खुलकर प्रयोग किया है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन पर सामरिक महत्व के कच्चे माल के निर्यात पर रोक लगाई थी। आज क्योंकि साम्यवादी व्यवस्था में व्यापार राज्याधिकृत हैं अतः राजनय के माध्यम से ही इसका विकास सम्भव है।

5.7.7 सहायता प्राप्ति

बढ़ती हुई जनसंख्या, अकाल, बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों के परिणामस्वरूप खाद्यान्न और धन की सहायता देना अथवा इसे प्राप्त करना, सभी देशों के राजनय का एक आवश्यक अंग बन गया है जिसे 'खाद्यान्न का राजनय'

(Food Diplomacy) अथवा 'सहायता का राजनय' (Aid Diplomacy) का नाम दिया जाता है। खाद्यान्नों की कमी आज विश्वव्यापी है। खाद्यान्न के क्षेत्र में तो रूस और चीन जैसे देश को भी कभी-कभी खाद्यान्न की सहायता की आवश्यकता पड़ जाती है। एशिया और अफ्रीका के देश रूस, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों से राजनय के माध्यम से समय-समय पर खाद्यान्नों से सम्पन्न देश इस प्रकार की सहायता देते समय कभी-कभी शर्तें रखते हैं तथा अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु इस सहायता की आड़ में सहायता प्राप्त देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। इस प्रकार का हस्तक्षेप खाद्यान्न ही नहीं वरन् आर्थिक तकनीकी, सैनिक आदि सहायता के साथ भी किया जाता है। पणिक्कर के अनुसार, "राष्ट्रीय हित तथा सुरक्षा इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार और अपने देशवासियों की रक्षा भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना राजनय का उद्देश्य है।" संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि राजनय को वास्तव में मानव हितों की रक्षा करनी है तो उसका मूल उद्देश्य अपने आपको राजनीति के एक ऐसे अंग के रूप में देखना होगा जो व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय संकटों से दूर रखकर राज्यों के राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं उनकी अभिवृद्धि करें।

5.7.8 राज्यों के स्थाई हितों की पूर्ति

राजनय का मुख्य लक्ष्य राज्य के स्थाई हितों की पूर्ति करना है। इन स्थायी हितों की अवहेलना केवल संकट के समय ही हो सकती है। कभी-कभी अस्थायी लाभों के साथ भी इनकी सौदेबाजी की जाती है। जनता के आग्रह एवं दबाव के कारण सरकार को कुछ समय के लिए स्थाई हितों को छोड़कर अन्य हितों की प्राप्ति का प्रयास करना पड़ता है। यह राजनय की दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक है। भावनाओं पर आधारित एक प्रतिक्रिया के दबाव में राज्य को अपनी विदेश नीति या राजनय को बदलना पड़े तो वह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है।

5.7.9 पारस्परिक आदान-प्रदान

राजनय अपने मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा तथा अधिकारों के निर्वाह के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान की नीति का अनुसरण करता है। कोई राजनय यदि अन्तिम सत्यों (Ultimate Truths) की धारणा पर आधारित है, तो वह निश्चय ही असफल होगा। अतः एक सफल राजनय को व्यवहारिक होना चाहिये। उसे दूसरे राज्यों पर नैतिक निर्णय देने अथवा उसके अधिकार निर्धारित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक राज्य का अपना जीवन दर्शन होता है। यदि एक राज्य यह चाहे कि अन्य राज्यों से राजनयिक सम्पर्क स्थापित करने से पहले वहां उस जैसे ही नैतिक तथा राजनीतिक मापदण्ड अपनाए जाने चाहिये तो राजनय असम्भव बन जायेगा। उच्च आदर्शों एवं नैतिक भाषा की प्रयोग केवल आत्म-हितों को उचित सिद्ध करने के लिए करना चाहिये।

5.7.10 सद्भावना की स्थापना

राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए राजनय को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देशों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिये। यदि स्वागतकर्ता देश मित्र है अथवा शत्रु नहीं है तो सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने पर वहां राष्ट्रीय हितों की संतुष्टि भली प्रकार हो सकेगी। राज्यों के आपसी समझौते एवं सन्धियां भी आपसी सद्भाव एवं सन्धि पर निर्भर रहने चाहिये। दो राज्यों के हित सामान्य होने पर भी उनके बीच तभी सन्धि हो सकेगी जबकि लम्बे राजनयिक सम्पर्क द्वारा दोनों राज्यों की जनता की मनमुटाव तथा शंकायें दूर हो जायेंगी। इस पृष्ठभूमि के बिना की गई सन्धि एक ही झटके में टूट जायेगी। सम्भावित शत्रु देश के साथ भी सद्भावना की स्थापना का प्रयास करना चाहिये क्योंकि यदि सरकारी नीति को नहीं भी बदला जा सका तो कम से कम उस देश में मित्रों एवं समर्थकों का एक वर्ग अवश्य तैयार किया जा सकेगा।

5.8 शक्ति तथा राजनय

राजनय के कई तत्त्व हैं जैसे नीति, कर्मचारीगण, राष्ट्रीय चरित्र आदि। लेकिन इन सब तत्त्वों में शक्ति का तत्त्व

बहुत महत्वपूर्ण है। ये तत्त्व उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रभावी साधन के रूप में काम करते हैं।

राजनय में शक्ति की भूमिका निरन्तर एवं स्थिर (Constant and Conditioning) है। अन्य बातें समान रहने पर एक राष्ट्र की आर्थिक एवं सैनिक शक्ति उसकी सम्मेलन में सफलता की पर्याप्त गारन्टी है। शक्ति ने वार्ता मेज (Negotiation Table) पर राष्ट्रों की अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की है। यह राष्ट्र को अपने विशेष दावों को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकती है अथवा दूसरे राष्ट्रों के दावों का विरोध कर सकती है। फ्रैंड्रिक महान के अनुसार, "शक्ति के बिना राजनय की स्थिति उसी प्रकार होती है जैसे संगीत की उसके यन्त्रों के बिना (Diplomacy without arms is music without instruments)। राजनयिक वार्तालाप मेज पर सैनिक शक्ति की धमकी डमोकलीज की तलवार (Sword of Democles) की तरह कमजोर धागे से लटकी रहती है। वार्ताकारों (Negotiators) को हमेशा ही विरोधियों की ताकत की मात्रा को ध्यान में रखना पड़ता है। शक्ति के बिना राजनय का क्षेत्र वास्तव में सीमित होता है। आधुनिक शब्दावली में कुछ विद्वानों ने शक्ति शब्द के स्थान पर राज्य की सामर्थ्य शस्त्रगृह (Capability arsenal) अथवा राजनीतिक सम्भावित (Political Potential) शब्द का प्रयोग किया है। स्टीफन बी. जोन्स (Stephen B. Jone) ने इस शब्द को व्यापक अर्थ के रूप में इस्तेमाल करते हुए राष्ट्रीय युद्ध कौशल (National Strategy) कहा है।

शक्ति के बल पर प्रतिष्ठा एवं गौरव निर्भर करता है। स्पष्ट रूप से यह शक्ति से सम्बन्धित है। एक राष्ट्र की विश्व मामलों में गरिमा उसके शक्ति के लिए प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। प्रतिष्ठा भी स्पष्ट तौर पर उद्देश्यों में है जिनका राज्य पीछा करते हैं। एक राज्य जिसके पास पर्याप्त प्रतिष्ठा है वह तार्किक रूप से निश्चित होता है कि अन्य राज्य उसके अधिकारों एवं हितों का अतिक्रमण नहीं कर सकें। वह अन्य राज्यों के सम्मान को भी प्राप्त करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज अन्तोगत्वा शक्ति से शासित होता है। विश्व शक्तियां भी स्वतन्त्र एजेन्ट नहीं हैं। शक्ति राजनीति की व्यवस्था में भौतिक शक्ति के प्रयोग का भय सदा बना रहता है। सर्वोच्च राज्यों की सशक्त सेनाओं के अस्तित्व मात्र से ही वे ऐसी परिस्थितियों में समझौता करे जिनमें अक्सर राजनयिक वार्तालाप करने वाले पक्ष असहमति प्रकट करते हैं। अगर इस प्रकार की दबाव की राजनीति का विरोध किया जाता है तो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सशस्त्र सेनाओं को वास्तव में ही शक्ति का प्रयोग करना चाहिये। इसके विपरीत अगर राज्य के पास उचित सशस्त्र सेना है तो वह इस तरह के प्रतिबन्ध का विरोध कर सकता है।

जब दूसरे तकनीक राज्यों को वांछित सन्तुष्टि प्रदान करने में असफल रहे तब राजनय के सहायक के रूप में सशस्त्र सेनाओं को कई अवसरों पर प्रयोग में लाया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में शक्ति प्रदर्शन के प्रयोग से चीन तथा जापान को अपने क्षेत्र विदेशी सम्बन्धों तथा व्यापार के लिए खोलने के लिए विवश किया गया। चीन में विदेशियों को व्यापारिक रियायतें अथवा क्षेत्रवादिता के विशेषाधिकार को प्रदान करने के लिये युद्धपोत (Gunboat) राजनय के तकनीक को प्रयोग में लाया गया। देश की प्रतिष्ठा राजदूत की मुख्य पूंजी होती है। उस देश की सैनिक शक्ति उस प्रतिष्ठा का एक प्रमुख तत्त्व होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को हल करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सफलता के लिए दूसरे यन्त्रों, राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक शक्ति, राजनेता द्वारा साधन एवं पूंजी को इकट्ठा रखने की योग्यता तथा सुविदित जनता के समर्थन पर निर्भर करता है, हालांकि राजनय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व्यवस्था का हृदय है। लिस्टर पियरसन (Lester Pearson) के अनुसार, "शक्ति के बिना चातुर्य राजनीतिक कार्य व्यक्ति को पत्थर की दीवार के सामने सीधा ले जाकर खड़ा कर देता है। लेकिन बिना शक्ति के राजनय को केवल ध्येयरहित अभ्यास होता है। अतः एक राज्य में यह शक्ति का यन्त्र ही राजनय को माँसपेशियां प्रदान करता है।

5.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से विद्यार्थियों को राजनय के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कार्यान्वयन के पहलुओं का ज्ञान होता है। अतः प्रारम्भ में राजनय को परिभाषित कर उसके विकास की चर्चा प्रस्तुत है। इसके साथ-साथ राजनय के तत्वों के बारे में भी बताया गया है। इसके अतिरिक्त राजनय की विदेशनीति में भूमिका, राजनय एक रणनीति, राजनय और शक्ति, राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि का भी उल्लेख है। अतः यह राजनय के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है।

5.10 प्रश्नावली

1. राजनय से आपका क्या अभिप्राय है? राजनय की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।
2. राजनय के विकास के चरणों का विस्तार से वर्णन करें।
3. राजनय के प्रमुख लक्ष्यों का उल्लेख कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

5.11 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्युयार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रुमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्ट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रुसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—6

राजनय के प्रकार : पुराना व नवीन, गुप्त एवं खुलाराजनय

अध्याय का ढांचा

6.1 प्रस्तावना

6.1.1 अध्याय के उद्देश्य

6.2 पुराना राजनय

6.2.1 पुराने राजनय की विशेषताएं

6.2.1.1 यूरोप की प्रभुता

6.2.1.2 महाशक्तियों और छोटी शक्तियों में भेद

6.2.1.3 महाशक्तियों का दायित्व

6.2.1.4 व्यवसायिक राजनयिक सेवा

6.2.1.5 निरन्तर एवं गोपनीय सन्धि वार्ता

6.2.1 दोष

6.3 नवीन राजनय

6.3.1 उदय के कारण

6.3.1.1 राष्ट्रों के मध्य सामुदायिक भाव का विकास

6.3.1.2 जनमत का प्रभाव

6.3.1.3 यातायात के साधनों में सुधार

6.3.2 विशेषताएं

6.4 पुराने एवं नवीन राजनय में अन्तर

6.4.1 लक्ष्य की दृष्टि

6.4.2 सद्व्यवहार की दृष्टि से

6.4.3 क्षेत्र की दृष्टि से

6.4.4 तरीकों की दृष्टि से

6.4.5 गोपनीयता की दृष्टि से

6.4.6 जन सम्पर्क की दृष्टि से

6.4.7 व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की दृष्टि से

6.5 राजनय का भविष्य

- 6.5.1 राजनय को धर्मयुद्धीय भावना से अवश्य रहित होना होगा
- 6.5.2 विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होता
- 6.5.3 राजनय को राजनीति क्षेत्र पर दूसरो राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा
- 6.5.4 राष्ट्रों को उन सभी प्रश्नों पर, जो उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा
- 6.5.5 यथार्थ लाभ की वास्तविकता हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिच्छाया का परित्याग कर दीजिये
- 6.5.6 अपने आपको कभी ऐसी स्थिति में न रखिये जहाँ से आप बिना प्रतिष्ठा गंवाए पीछे नहीं हट सकते तथा जहाँ से आप बिना गंभीर संकटों के आगे नहीं बढ़ सकते
- 6.5.7 एक निबेल संश्रित राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिये
- 6.5.8 सशस्त्र सेनाएं विदेश नीति की यन्त्र है, इसकी स्वामी नहीं
- 6.5.9 सरकार जनमत की नेता हैं, इसकी दास नहीं

6.6 सारांश

6.7 प्रश्नावली

6.8 पाठन सामग्री

6.1 प्रस्तावना

राज्यों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। ये उतने ही प्राचीन हैं जितने कि राज्य। यूनान, रोम व प्राचीन भारत में राजनयिक सम्बन्ध अति व्यापक थे तथा इन सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले नियम भी प्रतिपादित किये जा चुके थे। पुराने राजनय का अर्थ प्राचीन कालीन राजनय से कदापि नहीं है। इसका तात्पर्य सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में प्रचलित राजनय से है। रिचलु द्वारा प्रतिपादित व कैलियर्स द्वारा व्याख्यायित राजनय को जिसे पुराने राजनय की संज्ञा दी जाती है, सारे यूरोप ने स्वीकार किया था यह राजनय अठारहवीं शताब्दी तक गोपनीयता के आधार पर सफलतापूर्वक चलता रहा। 1919 के पूर्व का राजनय पुराना राजनय था। 1815 की वियाना की संधि और 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध के बीच का काल प्रतिष्ठित राजनय का स्वर्णकाल था। यह निश्चित नियमों से बंधा था। इस समय का राजनय शिष्टता, अनुभव एवं वस्तुनिष्ठता पर

आधारित था। यह विश्वास, स्पष्टता और यथार्थ को सफल राजनय का आधार मानता था। वार्ताएं गुप्त रूप से होती थी। आवागमन व संदेह वाहन के साधनों के समुचित विकास के अभाव में राजनयिक प्रक्रिया की गति मंद थी। वार्ताएं धीरे-धीरे चलती रहती थी। इसमें गतिरोध आने पर, इन्हें थोड़े समय के लिए स्थगित कर दिया जाता था, एवं अनुकूल समय व परिस्थिति आने पर इन्हें फिर चालू कर दिया जाता था। लोगों को कानों कान खबर नहीं मिलती थी। 1907 में एंग्लोरशन कन्वेंशन की वार्ताएं पन्द्रह माह तक चलती थी।

1918 के बाद राजनय को जो नया स्वरूप हमारे समक्ष आया उसे नवीन राजनय की संज्ञा दी जाती थी। यद्यपि 1919 में राजनय की स्थिति में परिवर्तन आया, किन्तु 1919 का वर्ष वास्तव में कोई विभाजक रेखा नहीं है। निकलसन के अनुसार केवल इतना ही हुआ है कि राजनय ने यही बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको बदल लिया है। जूलेस केम्बान का भी मत था कि पुराने तथा नए राजनय के मध्य भेद भ्रम है। रेगाला का तो यहां तक मत है कि भले ही कार्य करने की विधि में परिवर्तन आया हो, परन्तु आधुनिक नवीन राजनय अभी भी पुराने राजनय के कई गुणों को अपनाये हुए है। राजनय एक निरन्तर गतिशील व्यवस्था है। इसके आज के विचार तथा सिद्धान्तों का आधार सैकड़ों वर्षों का अनुभव है। वे, जिन्होंने पुराने राजनय की कटु आलोचना की और नयी व्यवस्था को स्वीकार किया, जैसा राष्ट्रपति विलसन ने किया था, उन्हें भी शीघ्र ही पुरानी व्यवस्था पर फिर आना पड़ा था। खुले राजनय के इस युग में सन्धि वार्ताएं आज भी गुप्त चलती हैं। इतना सब कुछ लिखने के बाद भी इस बात से नकारा नहीं जा सकता है कि यद्यपि टेलरा और बिस्मार्क तथा किसिंगर के द्वारा प्रयुक्त राजनय के साधनों में विभाजन रेखा खींची जा सकती हैं, तथापि राजनयिक विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं। आज राजनय कुछ गिने चुने व्यक्तियों – राजा महाराजाओं अथवा उनके प्रिय पात्रों द्वारा संचालित न होकर अब जनता तथा उनके प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है।

6.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से राजनय की प्रवृत्तियों का स्पष्ट वर्णन करना है। मूलरूप से यहां राजनय के प्रकार, विशेषकर प्राचीन व नवीन राजनय, पर बता दिया गया है। यहां नवीन राजनय के उदय एवं विशेषताओं की चर्चा के बाद नवीन व प्राचीन राजनय में अन्तर स्पष्ट किया गया है। अन्त में इस पर प्रकाश डाला गया है कि भविष्य में राजनय की क्या स्थिति होगी। अतः इस अध्याय में बदली हुई प्रवृत्तियों के साथ-साथ नवीन राजनय का समग्र अध्ययन प्रस्तुत है।

6.2 पुराना राजनय

पुराना राजनय के काल में राजा सर्वोच्च होता था। राजनय का उपयोग राजाओं का ही कार्य क्षेत्र था। इनके निर्णय अन्तिम होते थे। ये अपने देश के भाग्य निर्माता होते थे। राजनय इनके ही चारों ओर विद्यमान था। संवैधानिक राजतन्त्र के आगमन के बाद भी राजा स्वयं ही राजनयिक गतिविधियों के केन्द्र बने रहे। फ्रांस का राजा लूई चतुर्दश, रूस की साम्राज्ञी केथरीन, प्रशा का सम्राट फ्रेडरिक महान् अपने देश की विदेश नीति के संचालक थे। जर्मन सम्राट कैसर स्वयं ही पत्राचार करता था। बजारकों का समझौता इसी ने किया था। सम्राट एडवर्ड सप्तम की रोम, बर्लिन व पैरिस यात्रा के परिणामस्वरूप ही ब्रिटेन अपने पार्थक्य से निकलने में सफल रहा था। रानी विक्टोरिया भी विदेश मामलों से सरकार को प्रभावित करती थी। इसके कई यूरोपीय राज्यों के साथ वंशीय सम्बन्ध भी थे। यह इसी का प्रयास था कि बिस्मार्क ने 1875 में फ्रांस पर आक्रमण नहीं किया। इस प्रकार पुराना राजनय राजाओं से प्रभावित था। राजा, महाराजाओं के अतिरिक्त उनके कुछ कृपापात्र राजनयिक भी राजनय को प्रभावित करते थे। विशिष्ट व्यक्तियों का व्यक्तिगत प्रभाव अधिक महत्त्व रखता था। इस काल में राजदूत उच्च सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित घराने से ही नियुक्त किये जाते थे। ये राजा के व्यक्तिगत प्रतिनिधि होते थे। इनकी अपनी प्रतिष्ठा थी। वे अपने स्वामी के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते थे तथा इनके प्रति विशेष उत्तरदायी होते थे। यह राजनय विश्वास, स्पष्टता

और यथार्थ पर आधारित था। मित्रता, मानवता और शिष्टता इसके मूल नियम थे। इसमें घृणा और कटुता का अभाव था। दूत अपने राजा के लिए झूठ बोलता था। इसका मूल कार्य जहां एक ओर मित्र प्राप्ति और संधि समझौता करना था, तो दूसरी ओर दूसरों के मित्रों को अपनी ओर मिलाना भी रहता था। फ्रांस के संदर्भ में बिस्मार्क का राजनय इसका उदाहरण है।

6.2.1 पुराने राजनय की विशेषतायें

हेरल्ड निकलसन ने पुराने राजनय की निम्नलिखित विशेषतायें बतायी हैं :

6.2.1.1 यूरोप की प्रभुता

पुराने राजनय के समय यूरोप को सभी महाद्वीपों से महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस समय एशिया तथा अफ्रीका को साम्राज्यवाद, व्यापार एवं धर्म प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र माना गया। संयुक्त राज्य अमेरिका अवश्य इस युग में शक्तिशाली राज्य बन गया था पर वह 1897 तक विश्व राजनीति में भाग नहीं लेता था। वह अपने महाद्वीप तक सीमित रहा और पृथक्तावादी नीति अपनाए रहा। इस काल में कोई भी युद्ध उस समय तक बड़ा युद्ध नहीं माना जाता था जब तक कि पाँच यूरोपीय महाशक्तियों में से कोई एक भाग न ले। यूरोपीय राज्यों द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्ध सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय किया जाता था।

6.2.1.2 महाशक्तियों और छोटी शक्तियों में भेद

यूरोप की महाशक्तियां जिनके पास आर्थिक और सैनिक शक्तियां थी, वे अपने हितों की रक्षा के लिए राजनय का खुलकर प्रयोग करती थी। छोटे और कम शक्ति वाले राज्यों के हितों की उपेक्षा की जाती थी। उनका महत्त्व उनके सैनिक साधनों, युद्ध नीति, बाजार सम्बन्धी मूल्यों और कच्चे माल के स्रोतों के आधार पर आंका जाता था। छोटी शक्तियों के हित, मत एवं समर्थन महाशक्तियों के निर्णयों को बदल नहीं सकते थे। राजनय में महान शक्तियों का ही प्रभाव रहता था। छोटे राज्य उन्हीं का अनुसरण करते थे तथा उन्हीं के समर्थन से अपने हितों को सुरक्षित रख पाते थे।

6.2.1.3 महाशक्तियों का दायित्व

इस काल में महाशक्तियों का यह उत्तरदायित्व था कि छोटी शक्तियों के आचरण का निरीक्षण करें और उनके बीच शान्ति स्थापित करें। छोटी शक्तियों के बीच संघर्ष होने पर महाशक्तियां हस्तक्षेप करती थी। इस संघर्ष को महाशक्तियों का संघर्ष बनने से रोकने का पूरा प्रयास किया जाता था।

6.2.1.4 व्यवसायिक राजनयिक सेवा

पुराने राजनय की अन्य विशेषताओं में एक विशेषता यह भी थी कि यूरोप के प्रत्येक राज्य ने एक जैसी ही व्यवसायिक राजनयिक सेवा स्थापित कर रखी थी। ये राजनयिक अधिकारी विदेशों की राजधानियों में अपने देश के प्रतिनिधि माने जाते थे। इनकी शिक्षा, अनुभव तथा लक्ष्यों में पर्याप्त रूप से समता दिखाई देती थी। इनका एक पृथक् वर्ग बन गया था। उनकी सरकार की नीति कुछ भी हो पर उनका लक्ष्य शान्ति की रक्षा करना था। राज्यों के मध्य शान्ति अथवा सन्धि वार्ताओं में इन राजनयिक अधिकारियों का प्रभाव काफी रहता था। इनका सदैव लक्ष्य यही रहता था कि आपसी संघर्ष को जहां तक संभव हो टाला जाये।

6.2.1.5 निरन्तर एवं गोपनीय सन्धि वार्ता

पुराने राजनय की पांचवी मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें सन्धिवार्ताओं के निरन्तर तथा गोपनीय होने के नियम को मान्यता दी जाती थी। इसके लिए सार्वजनिक सम्मेलन आयोजित नहीं किये जाते थे। सन्धिकर्त्ता राजदूत को स्वागतकर्त्ता राज्य की जनता की पूरी जानकारी रहती थी, वह उनकी शक्ति एवं कमजोरियों का पहले से ही

अनुमान लगा सकता था। उसे स्थानीय हितों, दुराग्रहों एवं महत्वाकांक्षाओं की जानकारी रहती थी। वहाँ के विदेश मन्त्री से बार-बार मिलने पर भी जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता था। वार्तालाप गोपनीय होने के कारण बुद्धिपूर्ण और सम्मानजनक सन्धियाँ की जा सकती थी। सन्धि वार्ता के दौरान जनता की महत्वाकांक्षायें नहीं बढ़ पाती थी। दो राज्यों की सन्धि में प्रत्येक पक्ष को थोड़ा अवश्य झुकना पड़ता है। यदि जनता को यह बात पहले से ही ज्ञात हो जाये तो विरोधी आन्दोलन भड़कने की आशंकाएँ पैदा हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में सन्धि-वार्ता असफल हो जाती है। पुराने राजनय में गोपनीयता और विश्वसनीयता रहने के कारण ऐसी आशंका नहीं रहती थी।

पुराने राजनय के तरीकों के अनुसार सन्धि वार्ता करने वाले राजनयज्ञ को समय की कमी नहीं रहती थी। इस काल में दोनों पक्षों की सरकारें सन्धि पर अपना मत व्यक्त कर देती थी। यदि सन्धि वार्ता में कोई गतिरोध पैदा हो जाता था तो वार्ता को कुछ समय के लिये रोक दिया जाता था। अन्त में जो समझौता होता था। वह जल्दबाजी का परिणाम न होकर पर्याप्त सोच विचार एवं गम्भीर विचार विमर्श का परिणाम होता था। उदाहरण के लिए 1907 का आंग्ल-रूसी अभिसमय एक वर्ष तीन महा के विचार-विमर्श का परिणाम था।

6.2.1 पुराने राजनय के दोष

यद्यपि आज के राजनय की अपेक्षा पुराना राजनय निकलसन की दृष्टि में उच्च स्तर का था क्योंकि उसमें गम्भीर बुद्धिमत्ता, परिपक्वता एवं गोपनीयता जैसे गुण पाये जाते थे, परन्तु वह सर्वथा दोष रहित न था। उसमें प्रमुख दोष 'गोपनीयता' बताया जाता है। आलोचकों का कहना है कि सन्धिवार्ता को विश्वसनीय बनाने के लिए गोपनीयता की आदत विकसित की गई। उच्च अधिकारी तथा आदरनीय व्यक्ति भी ऐसी गुप्त सन्धियों में उलझ गये जिनका वे उल्लंघन नहीं कर सकते थे। निकलसन ने स्वयं स्वीकार किया है कि "गुप्ता बातों को प्रोत्साहन करने वाली विश्वसनीय सन्धि वार्ताएँ आज के खुले राजनय में बुरी मानी जाती हैं।

पुराने राजनय में व्यावसायिक राजनयज्ञ कुछ कार्यात्मक दोष भी विकसित कर लिया करते थे। उनमें अहंकार या मूर्खता से पूर्ण कार्य करने का दोष भी आ जाता था। कभी-कभी वे राष्ट्रहित की चिन्ता न कर भावावेश में आकर सन्धि कर बैठने की गलती कर देते थे। जिससे राष्ट्र का पतन भी हो जाता था। वे यह भी समझने लगते थे कि विदेशों की स्थिति का जितना ज्ञान उन्हें है, उतना अन्य राजनीतिज्ञों को नहीं। इस अहंकार में वे गलत निर्णय कर बैठते थे। उस समय के राजनयज्ञों में यह गलत मान्यताएँ प्रचलित हो गई थी कि समय बीतने पर स्वतः ही समझौता हो जाएगा, अतः महत्वहीन बातों की चिन्ता करना बेकार है। महत्त्वपूर्ण बातें स्वयं सुलझ जायेंगी, अतः जल्दबाजी करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस लापरवाही का परिणाम कभी-कभी समस्त राष्ट्र को भोगना पड़ता था। इस प्रकार कह सकते हैं कि पुराना राजनयज्ञ एक आत्मतुष्ट व्यक्ति होता था। उसके कार्य, अनुभव और चरित्र की कमजोरियाँ अनेक बार राजनयिक असफलता के कारण बन जाती थी।

6.3 नवीन राजनय

सभी मानवी संस्थाओं की भाँति राजनय भी गतिशील है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ, विशेषकर प्रथम महायुद्ध के बाद, राजनय में हुए परिवर्तनों को नवीन राजनय की संज्ञा दी गई है जिसके परिणामस्वरूप राजनय की कार्य पद्धति में अनेक नवीनताओं का समावेश हुआ है। बीसवीं शताब्दी, नये राजनय, नये राजदूत, नये राजनयिक तरीकों और नई व्यवस्था का युग है। हैरल्ड निकलसन के अनुसार पुराने राजनय के पतन तथा नवीन राजनय के उदय के तीन कारण हैं

6.3.1 उदय के कारण

6.3.1.1 राष्ट्रों के मध्य सामुदायिक भाव का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के कारण राष्ट्रों में सामुदायिक भाव विकसित

हुआ। धीरे-धीरे राष्ट्रीय हितों से हटकर सामुदायिक भाव से प्रेरित होने लगे। परिणामस्वरूप नेपोलियन के डर से यूरोप एक हो गया। इस काल में कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा शान्ति सम्मेलनों का आयोजन हुआ। मेटरनिक व्यवस्था यूरोप को प्रभावित करती रही। इस व्यवस्था ने कुछ समय के लिए यूरोपीय राज्यों के विदेश सम्बन्धों का आधार सामुदायिक हित बना दिया। प्रथम महायुद्ध के काल के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, गुटों तथा सम्मेलनों की संख्या बढ़ी। इनका परिणाम था बहुपक्षीय राजनय। आधुनिक युग की जटिल समस्याओं के समाधान के लिए सभी सम्बन्धित राज्यों के सहयोग की आवश्यकता थी, यही बहुपक्षीय राजनय का आधार था। इसने व्यक्तिगत राष्ट्रीय स्वार्थों को पीछे छोड़ दिया और यूरोपीय संहति विश्व व्यवस्था और सामान्य राष्ट्रीय हितों पर बल दिया।

6.3.1.2 जनमत का प्रभाव

राजनय के प्रारम्भिक काल में यह सोचना भी अजीब लगता था कि सामान्य जनता का विदेश नीति व राजनय पर प्रभाव हों, परन्तु मध्य वर्ग के बढ़ते प्रभाव ने राजनय के स्वरूप को बदल दिया। अब मध्य वर्ग के राजनयिक अभिकर्ता योग्यता और शिक्षा के आधार पर चुने जाते थे। धीरे-धीरे यह धारणा घर कनने लगी है कि जनमत से प्रभावित विदेश नीति निश्चित ही शान्ति लायेगी। जनमत का प्रभाव बढ़ा और 19वीं शताब्दी तक राजनय व विदेशनीति जनमत से प्रभावित होने लगे। कैनिंग व बिस्मार्क ने इस प्रबुद्ध जनमत का उपयोग अपने उद्देश्य पूर्ति के लिये किया। पामस्टन का तो यहां तक मत था कि जनमत सेना से भी अधिक शक्तिशाली है जो संगीनों और गोलियों से भी अधिक सफलता प्रदान करता है। आज तो हर राज्य के नीति-निर्माता जनमत से प्रभावित हैं, अतः किसी भी प्रकार का निर्णय लेने से पूर्व सामान्य जनता की क्या प्रतिक्रिया होगी इस बात पर अवश्य विचार कर लेते हैं। शिक्षा के विकास, समाचार पत्रों, रेडियों और टेलीविजन के उदय ने निश्चय ही विदेश नीति तथा राजनय को प्रभावित किया है।

6.3.1.3 यातायात के साधनों में सुधार

आधुनिक युग में यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास ने राजनय को पर्याप्त प्रभावित किया है। निकलसन के अनुसार भाप के इंजिन, बेतार के तार, वायुयान तथा दूरभाष ने पुराने राजनय के व्यवहार को बदलने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। पहले यातायात एवं संचार के आधुनिक साधन न होने के कारण राजनयज्ञों को अपनी बुद्धि के अनुसार ही निर्णय लेने होते थे और प्रत्येक कार्य के लिए वहीं उत्तरदायी होते थे। आज की परिस्थितियों में वे आवश्यकता के समय अपनी सरकार से शीघ्र सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। आजकल दूतों की योग्यता और कुशलता का पुराने समय जैसा महत्त्व नहीं है। इसके बावजूद भी राजदूत के अनुभव, स्वभाव, बुद्धिमता, सदाचरण आदि की उपयोगिता है।

नया राजनय वास्तविक अर्थ में प्रथम महायुद्ध के पश्चात आरम्भ हुआ जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों ने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया। अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यूरोप तक ही सीमित नहीं रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राज्यों की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बन गई है। अमेरिका और जापान ने अब अपनी पृथकतावादी नीति त्याग कर विश्व राजनीति में सक्रिय रूचि लेना प्रारम्भ कर दिया। नवीन राजनय को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित तत्त्व हैं :-

- (1) संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी पृथकतावादी नीति के लिए प्रसिद्ध था। प्रथम विश्व युद्ध के समय उसने इस नीति को अल्पकाल में लिये बदल दिया था। लेकिन द्वितीय युद्ध में जब से उसने भाग लिया है, तब से विश्व राजनीति का वह प्रसिद्ध खिलाड़ी माना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त लैटिन अमेरिका के राज्य भी विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे हैं। के.एम. पानिक्कर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और राजनय का कार्य क्षेत्र अब केवल यूरोपीय राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रहा है, अब उसका केन्द्र यूरोप से हटकर अन्य महाद्वीपों में बिखर गया है।"

- (2) एशिया तथा अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तथा वे भी अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच का एक अभिनेता मानने लगे। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व जापान के अतिरिक्त किसी एशियाई देश का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नाम नहीं था। विश्व रंगमंच में न तो उनकी कोई स्थिति थी और न ही उनकी आवाज को कोई महत्व दिया जाता था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थिति में परिवर्तन आया तथा राष्ट्रवादी चीन, अफगानिस्तान, ईरान और स्याम आदि एशियाई देश राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया के अनेक देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। ये संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनकी आवाज का महत्व बढ़ गया। प्रसिद्ध इतिहासकार ऑरनाल्ड टायनवी ने लिखा है कि 1919 से पहले केवल 16 छोटे राज्य गम्भीरतापूर्वक विश्व राजनीति में भाग लेते थे। इनमें से 15 यूरोपीय देश थे। 1919 के बाद यह संख्या बढ़ कर 47 हो गई। इनमें से केवल 22 ही यूरोपीयन थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इस नये वातावरण में एशिया के देश यूरोपीय अथवा अमेरिका राजनयिक दांव पेशों के अखाड़े मात्र नहीं रह गये। राजनय पर अब यूरोप का एकाधिकार नहीं रहा।
- (3) नवीन राजनय के उदय का तीसरा कारण पुराने शक्ति सन्तुलन का नष्ट होना था। शक्ति संतुलन में परिवर्तन आने के कारण राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगता है। हिटलर तथा उसके सहयोगियों की पराजय के बाद संसार स्पष्ट रूप से दो सैद्धान्तिक दलों में बंट गया। पूर्वी एशिया में लाल चीन का उदय हुआ। इन नए परिवर्तनों से युक्त विश्व के राजनय का स्वरूप बदलना भी स्वाभाविक था।
- (4) सोवियत रूस में होने वाली महान क्रान्ति के बाद लेनिन तथा उसके साथियों ने रूसी राज्यभिलेखागारों के गुप्त अभिलेखों को प्रकाशित किया। इस प्रकार गोपनीय सन्धिवार्ता का प्रकाशन करके एक नये राजनय का सूत्रपात किया गया। अनेक देशों ने जारशाही रूस के साथ जो सन्धियां की थी, वे उनकी जनता के सामने खुल गई। अतः गुप्त सन्धियों के प्रति विभिन्न देशों का शासन एवं जनता चौकन्नी रहने लगी।
- (5) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रारम्भ होने वाले शीत युद्ध ने संसार को स्पष्टतः दो शिविरों में विभाजित कर दिया। इसमें से प्रत्येक शिविर दो प्रकार के राजनय प्रयोग करता था – एक शिविर के साथ राज्यों के साथी तथा दूसरे शिविर के साथ विरोधी राज्य। इस परिवर्तित सन्दर्भ में पुराना राजनय समयातीत बन गया। सन् 1991 ई. में सोवियत संघ के अवसान के बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका ही विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गई है, और शीतयुद्ध की समाप्ति हो गई। इससे भी राजनय के स्वरूप में परिवर्तन आना अपरिहार्य है।

6.3.2 विशेषतायें

श्री के.एम. पनिक्कर ने एक राजनय की पांच मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है :-

- (1) नवीन राजनय के अन्तर्गत एक देश अपनी बात को समझाने के लिए अन्य देश के शासकों से ही अपील नहीं करता, वरन् वहां की जनता से अपील करता है।
- (2) विरोधी राज्य की सरकार को बदनाम करने के लिए उसके लक्ष्यों को तोड़-मरोड़ कर रखा जाता है, तथा दोषारोपण किया जाता है।
- (3) अपने राज्य की जनता का विरोधी राज्य की जनता से सम्पर्क तोड़ दिया जाता है। केवल अधिकारी स्तर पर ही राजनयिक सम्बन्ध बनाये रखे जाते हैं। साम्यवादी चीन तथा तानाशाही पाकिस्तान द्वारा भारत के प्रसंग में इसी प्रकार की नीति अपनाई गई है।
- (4) विरोधी राज्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्कों को कम से कम कर दिया जाता है। तथा किसी भी समझौते के साथ आक्रमणकारी भाषा में अधिक से अधिक शर्तें लगाई जाती हैं।

(5) प्रत्येक राज्य अपने विरोधी पक्ष को डराने की दृष्टि से अस्त्र-शस्त्रों के लिए बहुत सा धन खर्च करता है। तथा हड़तालें, सम्मेलनों और आन्दोलनों का आयोजन करता है।

स्पष्ट है कि आधुनिक राजनय का स्वरूप अपने पूर्ववर्ती से पर्याप्त भिन्न है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई पद्धति का विकास हो रहा है। राजनय के पुराने तरीके अपनाए जाने से अनेक बार कठिनाईयां एवं समस्याएँ राजनय की नई विधियों की खोज के आधार बन जाती हैं। जब कभी एक नया राज्य विश्व शक्ति के रूप में उदित होता है तो राजनय के तरीके में एक संकट आ जाता है। इस संकट से उत्पन्न अस्थिरता एवं अनिश्चितता को पनिकर महोदय ने चिन्तनीय माना है।

6.4 पुराने और नए राजनय में अन्तर

पुराने और नये राजनय के बीच लक्ष्य एवं प्रक्रिया की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण अन्तर निम्नलिखित हैं :-

6.4.1 लक्ष्य की दृष्टि

पुराने राजनय (1500 से 1914 तक) का मुख्य उद्देश्य मित्र बनाना और दूसरे के मित्रों को उनसे तोड़ना था। नये राजनय का लक्ष्य इसके साथ-साथ राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अखण्डता की रक्षा करना है। आधुनिक राजनय में यह माना जाता है कि राज्य की सुरक्षा के लिए केवल विदेशी सेनाओं से ही खतरा नहीं रहता वरन् आर्थिक और राजनीतिक मोर्चों पर भी खतरा हो सकता है। अतः एक राज्य सदैव दूसरे राज्य की राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर नजर रखता है तथा उनको निष्फल बनाने का प्रयास करता है। आजकल राजनय का मुख्य दायित्व देश के व्यापारिक हितों की उपलब्धि है। व्यावसायिक राजनय आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सक्रिय अंग बन गया है।

6.4.2 सद्व्यवहार की दृष्टि से

पुराने राजनय में पत्र-व्यवहार तथा दूसरे विचार-विमर्शों में सभ्य तथा शिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाता था। प्रत्येक राज्य अपना दृष्टिकोण तथा लक्ष्य इस प्रकार करता था ताकि दूसरे राज्य को बुरा प्रतीत न हो। के.एम. पनिकर के मतानुसार, "पुराना राजनय एक मैत्रीपूर्ण उदार तथा शिष्ट कला थी जिसकी साधना बड़ी दक्षता के साथ की जाती थी और उसमें पारस्परिक सहिष्णुता बरती जाती थी।" इसके विपरीत नया राजनय अपने विरोध को कड़े रूप में प्रदर्शित करता है तथा समय-समय पर अशिष्ट भाषा का प्रयोग भी करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में अनेक बार गालियों का प्रयोग जूते उठाने की सीमा तक भी जा पहुंचता है। आज शिष्टाचार की भाषा का युग नहीं रहा। विरोधी के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार को सामान्य जनता विश्वासघात की परिधि में मानती है। आज अनौपचारिक मेलजोल का सर्वथा बहिष्कार किया जाता है।

6.4.3 क्षेत्र की दृष्टि से

पुराने राजनय का क्षेत्र सीमित था और केवल यूरोपीय राज्यों, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान तक ही सीमित था। आज इसका सम्बन्ध विश्व के छोटे राज्य से भी है। विश्व राजनीति में लिए जाने वाले निर्णय महाशक्तियों की मनमानी से नहीं वरन् छोटे राज्यों की आवाज के अनुसार लिये जाते हैं। इस प्रकार नये राजनय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है।

6.4.4 तरीकों की दृष्टि से

पुराने राजनय का व्यवहार रूढ़िवादी और पुराने तरीकों से संचालित किया जाता था। अब यह सिद्धान्त और तरीके पुराने और बेकार हो चुके हैं। आज के राजनयज्ञों के सम्पर्कों की नयी पद्धतियां हैं। निकलसन के कथनानुसार "आज पुरानी मुद्रा चलन से बाहर हो चुकी है। हम नये सिक्कों को काम में ले रहे हैं।"

6.4.5 गोपनीयता की दृष्टि से

पुराने राजनय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां और समझौते गुप्त हुआ करते थे। प्रशासकों द्वारा गुप्त रूप से पूरे देश की कुछ शर्तों से बद्ध कर दिया जाता था। सोवियत संघ में साम्यवाद का उदय होने के बाद गुप्त सन्धियों का युग समाप्त हो गया और इसके स्थान पर खुली सन्धियां की जाने लगी। अमेरिकी राष्ट्रपति ने खुले ढंग से किये गये खुले करारों का समर्थन किया। विश्व के राज्यों ने इसे मान्यता दी।

6.4.6 जन सम्पर्क की दृष्टि से

पुराने राजनय में मुख्य कार्यकर्ता राज्यों की सरकारें होती थीं। किन्तु नये राजनय में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती हैं। जनसम्पर्क के लिए रेडियो, समाचार पत्र, सांस्कृतिक संगठन आदि का सहारा लिया जाता है। आजकल प्रेस तथा सूचना विभाग राजदूत के कार्यालय का एक आवश्यक अंग बन गया है। कुछ दूतावासों में सांस्कृतिक सहचारी भी रखे जाते हैं।

6.4.7 व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की दृष्टि से

पुराने राजनय में राजदूतों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अधिक होता था। उस समय यातायात और संचार के साधनों का विकास नहीं हो पाया था। अतः वे अपनी सरकार से पथ-प्रदर्शन प्राप्त किये बिना ही व्यक्तिगत सूझ-बूझ तथा योग्यता के आधार पर कार्य करते थे। आजकल यातायात एवं संचार के द्रुतगामी साधनों ने यह सम्भव बना दिया है कि राजदूत किसी भी समय अपनी सरकार का निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकें। इसलिए आज के राजनयज्ञ अपने कार्यों के लिए पूर्ववत् व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं रखते।

6.5 राजनय का भविष्य

राजनय के दोषों के होते हुए भी इसका भविष्य उज्ज्वल है। इसके भविष्य का सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि परम्परागत राजनय के उन तथ्यों तथा परिणामों को दूर किया जाये तो इसके पतन के लिये उत्तरदायी है, जैसे लोकप्रिय तथा सार्वजनिक राजनय की व्यवस्था, शिखर सम्मेलन, कटु और उत्तेजित करने वाले भाषण, समाचार-पत्रों की सुर्खियां आदि। व्यावसायिक राजनय को महत्व दिया जाना चाहिये, गैर-व्यावसायिक नियुक्तियों जितनी कम से कम हों उतना अच्छा है, अधिक से अधिक गोपनीयता होनी चाहिये, योग्य, प्रशिक्षित एवं अनुभवी राजदूतों के हाथों में ही केवल वार्ता का कार्यभार सौंपा जाना चाहिये। वार्ताकार में अतुल धैर्य होना चाहिये तथा उसे सस्ती लोकप्रियता के लोभ से परे होना चाहिये। साथ ही राजनेताओं को स्वयं पर नियन्त्रण लगा लेना चाहिये कि वे अधिक यात्राओं पर नहीं जायें तथा सार्वजनिक मंच से कटु आलोचनायें समाप्त कर दे। एनडू शॉनफील्ड के अनुसार दूतावासों की संख्या कम कर देनी चाहिये। मास्को, टोकियो, वाशिंगटन जैसे गिने-चुने राजधानियों में ही केवल दूत नियुक्त किये जायें तथा अविकसित देशों में मिले जुले दूतावास खोले जायें। इन्हें देख कर ही छोटे राज्य नये दूतावासों को खोलने से पहले दो बार सोचेंगे। जर्मनी की एक समिति का परामर्श था कि क्षेत्रीय दूतावास खोले जायें यदि वे सम्भव नहीं हो तो दूतावासों में दो से अधिक व्यक्ति कार्य न करें तथा यह विशेष कार्य हेतु ही नियुक्त किये जायें। अयोग्य सिद्ध होने पर उन्हें नौकरी से निकाल दिया जाये। उनकी सेवा किसी भी परिस्थिति में 60 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये जिससे कि तरुण वर्ग के राजदूतों को पदोन्नति के अवसर मिलते रहे। विदेश विभाग के कार्यालयों को जहाँ तक सम्भव हो एक ही स्थान पर तथा एक ही भवन में होना चाहिये। किसी भी राजदूत को एक स्थान से दो-तीन वर्षों में ही स्थानान्तरण कर देना गलत है, क्योंकि उसे अपने कार्य को जानने में ही एक आध वर्ष लग जाता है और जब वह निपुणता के स्तर पर आता है उसका स्थानान्तरण कर दिया जाता है। अतः किसी भी राजदूत को एक स्थान से चार वर्ष से पूर्व नहीं हटाना चाहिये। राजनय के प्रभावपूर्ण उपयोग के लिये राजदूतों को समय-समय पर दूसरे विभागों और व्यवसायों – पत्रकारिता, उद्योग, व्यापारिक संस्थाओं, प्रतिरक्षा, व्यापार व वाणिज्य, विदेशी सचिवालय आदि में कार्य करने की सुविधा दी जानी चाहिये। इनमें दो-चार वर्ष कार्य

करने से उसे सामान्य व्यक्ति से सम्पर्क तथा वास्तविक जगत् का ज्ञान प्राप्त होगा। यह कार्य निश्चित ही पुनः दोहराने के लिये सिखाये जाने वाले पाठ (Refresher Course) की भांति उसमें नई स्फूर्ति देने वाला होगा। वे थोड़े से कदम हैं जिनको उपयोग में लाने से राजनय का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

हम अपने सामान्य जीवन में प्रजातन्त्रीय हैं, अतः एक बार किसी को कार्य सौंपकर उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते। कार्यभार सौंपते समय शिक्षा, अनुभव आदि की पूछताछ करते हैं, परन्तु एक ऐसे कार्य के लिए जिस पर विश्व का वर्तमान ही नहीं, वरन् भविष्य भी निर्भर करता है ऐसे कार्य को अनाड़ी गैर-व्यावसायिक खिलाड़ी, शिक्षक, व्यापारी आदि को सौंप देते हैं। यही नहीं, संसद आदि के माध्यम से उनके कार्यों में हस्तक्षेप व नियन्त्रण भी रखे रहते हैं। राजनय के भविष्य के लिये निश्चित ही यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित एवं अनुभवी राजदूतों की ही नियुक्तियां अधिक हो जायें।

आज राजदूत का कार्य दो राज्यों के मध्य सम्बन्धों को ही मैत्रीपूर्ण बनाना नहीं है। वर्तमान जटिल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कारण ये सम्बन्ध दो राज्यों के मध्य न रहकर अनगिनत राज्यों के मध्य बन गये हैं। इन सम्बन्धों की जटिलता इनके विरोधी राष्ट्रीय हितों के कारण हैं। राजनय के भविष्य को और भी अधिक उज्ज्वल बनाने के लिये आवश्यक है कि अपने देश की राष्ट्रीय सुरक्षा व अखण्डता को बनाये रखते हुए सभी विरोधी राष्ट्रीय हितों के मध्य सामंजस्य बैठाया जाये। इस प्रकार राजनय का भविष्य तभी सुरक्षित रह सकता है जब राष्ट्रीय मर्यादित सीमाओं में रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय हित वृद्धि पर बल दिया जाये। जिस प्रकार एक आदर्श नागरिक वहीं होता है जो दूसरों के हित को ध्यान में रखे, ठीक उसी प्रकार राज्यों को भी चाहिये कि वे हर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्या को दूसरे राज्यों की दृष्टि से देखे-समझें। राजदूत के धर्म, जाति व राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर कार्य करने में ही विश्व का हित है।

राजनय की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि उसे अपनी तथा अन्य राज्यों में हो रही गतिविधियों की पूर्व जानकारी होती रहे। यदि सम्भव हो तो विभिन्न क्षेत्रों – जैसे यूरोप, अमेरिका, लेटिन-अमेरिका, एशिया, अफ्रीका, मध्यपूर्व, सुदूर पूर्व आदि क्षेत्रों के राजदूतों की समय-समय पर (और वर्ष में एक बार अवश्य) बैठकें बुलाकर उनके क्षेत्र में हो रही गतिविधियों का अध्ययन कराते रहना चाहिये। इन औपचारिक सम्मेलनों आदि में न तो कोई दिखावा होगा, न लम्बे-चौड़े प्रचार के लिये भाषण होंगे और न होंगी रेडियो, टेलीविजन तथा समाचार-पत्रों की सुर्खियां।

मॉर्गन्थो का विचार है कि आधुनिक युग में कुछ ऐसे विकास हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप राजनय की प्रभावशीलता को आघात पहुंचा है, तथापि यदि राजनय उन तरीकों का पुनः प्रयोग करें जिनके द्वारा सुदूर अतीत से राष्ट्रों के पारम्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित हुए हैं, तो इसकी उपयोगिता का पुनः प्रवर्तन हो सकता है। मॉर्गन्थो ने राजनय के “नो नियमों” चार मौलिक नियम (Four Fundamental Rules) तथा समझौते की पांच पूर्वापेक्षित शर्तें (Five Pre requisites of Compromise) का उल्लेख किया है जिनके माध्यम से यह ‘समायोजन द्वारा शान्ति’ स्थापित कर सकता है। और राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय हित संवर्द्धन के एक शक्तिशाली साधन के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो सकता है।

6.5.1 राजनय को धर्मयुद्धीय भावना से अवश्य रहित होना होगा

यह उन नियमों में से पहला नियम है जिसकी अवहेलना राजनय युद्ध का संकट लेकर ही कर सकता है। कोई भी धर्म अथवा मत पूर्ण सत्य नहीं होता, अतः अपने धर्म को ही सत्य मानकर उसे शेष संसार पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। ऐसा कोई भी प्रयत्न शान्ति के लिए घातक होगा। विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा एक विश्वव्यापी राजनीतिक धर्म के रूप में नहीं की जानी चाहिये। धर्मयुद्धीय भावना से रहित होकर ही राजनय को उन वास्तविक समस्याओं का सामना करनेका अवसर प्राप्त होगा जिनके लिए शान्तिपूर्ण समाधान आवश्यक हैं।

राष्ट्रवादी विश्ववाद की महत्वाकांक्षाओं के परित्याग पर ही राजनय राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय हित—सम्वर्द्धन का एक सफल साधन सिद्ध हो सकता है।

6.5.2 विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा

शान्ति—संरक्षण राजनय का यह दूसरा नियम है। एक शान्तिप्रिय राष्ट्रीय हित की परिभाषा केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के अर्थ में हो सकती है, तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा राष्ट्रीय क्षेत्र एवं इसको संस्थाओं की अखण्डता के रूप में अवश्य होनी चाहिये। तब राष्ट्रीय सुरक्षा वह न्यूनतम वस्तु है, जिसकी राजनय की यथेष्ट शक्ति द्वारा बिना समझौते के रक्षा करनी होगी।

6.5.3 राजनय को राजनीति क्षेत्र पर दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा

राजनय को यदि उसे राष्ट्रीय हित—सम्वर्द्धन की दृष्टि से सफल होना है तो दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण और राष्ट्रीय हित को भी ध्यान में रखना चाहिये। “आत्म—पक्षपात की अतिशयता एवं अन्य लोग स्वभावतः क्या आशा अथवा किस से भय करते हैं, इस विषय के पूर्णतः अभाव के समान किसी राष्ट्र के लिये और कुछ भी घातक नहीं हैं।”

6.5.4 राष्ट्रों को उन सभी प्रश्नों पर, जो उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा

यही राजनय का कार्य सबसे अधिक कठिन है। प्रत्येक राष्ट्र के स्थायी और अस्थायी दो प्रकार के हित हैं। अस्थायी हित अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते, अतः ऐसे राष्ट्रीय हितों पर समझौता करने की भावना रखनी चाहिये।

6.5.5 यथार्थ लाभ की वास्तविकता हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिच्छाया का परित्याग कर दीजिये

समझौता करते समय राजनयज्ञ को अमूर्त बातों की अपेक्षा तथ्यगत वस्तुओं को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिये। राजनयज्ञ के समक्ष वैधता एवं अवैधता के बीच नहीं, वरन् राजनीतिक विवेक एवं राजनीतिक मूर्खता के बीच विकल्प होता है।

6.5.6 अपने आपको कभी ऐसी स्थिति में न रखिये जहां से आप बिना प्रतिष्ठा गंवाए पीछे नहीं हट सकते तथा जहां से आप बिना गंभीर संकटों के आगे नहीं बढ़ सकते

राजनीतिक परिणामों से असावधान रहकर एक राष्ट्र किसी ऐसी स्थिति के साथ अनन्यता स्थापित कर सकता है, जिसे अपनाने का उसे अधिकार हो भी सकता है और नहीं भी, तब फिर समझौता होना कठिन हो जाता है। अपनी प्रतिष्ठा में गंभीर हानि के बिना एक राष्ट्र उस स्थिति से पीछे नहीं हट सकता। राजनीतिक संकटों, और सम्भवतः युद्ध के संकट के प्रति अपने को प्रस्तुत किये बिना यह उस स्थिति से आगे भी नहीं बढ़ सकता। अरक्षणीय स्थितियों में असावधान होकर गतिशीलतापूर्वक जाना और विशेषकर उचित समय में उनसे अपने को मुक्त करने से हठपूर्वक अस्वीकार करना अयोग्य राजनय का लक्षण है। सन् 1870 ई. के फ्रेंको—प्रेसियन युद्ध के ठीक पहले नैपोलियन तृतीय की नीति तथा प्रथम महायुद्ध के ठीक पहले आस्ट्रिया एवं जर्मनी की नीतियाँ इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये उदाहरण यह भी प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध के संकट और इस नियम के उल्लंघन में कितनी घनिष्टता है।

6.5.7 एक निर्बल संश्रित राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिये

राजनय की दृष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र को इस बात से सावधान रहना चाहिये कि उसके लिए कोई निर्बल राज्य निर्णय न ले। अपने शक्तिशाली मित्र की सहायता द्वारा सुरक्षित होकर निर्बल संश्रित राष्ट्र अपनी विदेश—नीति के ध्येयों एवं तरीकों को अपनी आवश्यकतानुसार चुन सकता है। तब शक्तिशाली राष्ट्र अपने को इस स्थिति में पाता है कि उसे ऐसे हितों को अवलम्बन देना होगा, जो उसके अपने नहीं हैं। तथा वह उन प्रश्नों पर समझौता

करने के लिए असमर्थ हैं, जो उसके लिए नहीं वरन् उसके संश्रित राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण है। 1853 के क्रीमिया युद्ध के ठीक पहले टर्की ने जिस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस को बाध्य किया, उसमें इस नियम के उल्लंघन का श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है। यूरोपीय-संघ (The Concert of Europe) रूस तथा टर्की के बीच के संघर्ष के निपटारे के लिए एक समझौते को प्रायः स्वीकार कर चुका था। उसी समय टर्की ने यह जानते हुए कि रूस के साथ युद्ध होने पर पाश्चात्य शक्तियाँ इसकी सहायता करेंगी उस युद्ध के आरम्भ के लिए पूरा प्रयत्न किया। फलतः ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस को अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में अन्तर्ग्रस्त होना पड़ा।

6.5.8 सशस्त्र सेनाएं विदेश-नीति की यन्त्र हैं, इसकी स्वामी नहीं

इस नियम के पालन के बिना कोई सफल एवं शान्तिपूर्ण विदेश-नीति सम्भव नहीं है। यदि सेना विदेश नीति के साध्यों एवं साधनों को निर्धारित करे तो कोई भी राष्ट्र समझौते की नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। सशस्त्र सेनाएं युद्ध के यन्त्र हैं, विदेश नीति शांति का एक यन्त्र है। युद्ध का लक्ष्य सरल एवं शर्तरहित है, अर्थात् शत्रु की इच्छा को भंग करना। इसके ढंग भी समान रूप से सरल एवं शर्तरहित हैं अर्थात् शत्रु के कवच के सबसे अधिक भेद्य स्थान पर अधिक से अधिक हिंसा का प्रयोग करना। फलतः सैनिक नेता अवश्य ही दुराग्रही ढंग से विचार करेगा। विदेश-नीति का उद्देश्य सापेक्ष एवं सशर्त हैं। अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए दूसरे पक्ष के महत्वपूर्ण हितों को हानि पहुंचाये बिना जितना आवश्यक हो, उतना दूसरे पक्ष की इच्छा को तोड़ना नहीं, वरन् झुकाना। विदेश-नीति के ढंग सापेक्ष एवं सशर्त हैं। अपने मार्ग की बाधाओं को समाप्त कर आगे बढ़ना नहीं, वरन् उनके समक्ष पीछे हटना, उन पर विजय पाना, उनके समीप चालें चलना, तथा अनुनय वार्ता एवं दबाव की सहायता द्वारा उन्हें धीरे-धीरे मन्द एवं विघटित करना। परिणाम यह है कि राजनयज्ञ का मस्तिष्क जटिल एवं सूक्ष्म होता है। अपने समक्ष प्रश्न को वह इतिहास में एक क्षण के रूप में देखता है, तथा कल की विजय से परे वह भविष्य की असीम सम्भावनाओं की प्रत्याशा करता है।

6.5.9 सरकार जनमत की नेता हैं, इसकी दास नहीं

यदि विदेश नीति के संचालन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति इस नियम का अविच्छिन्न रूप से ध्यान नहीं रखते, तो वे राजनय के पूर्वगामी नियमों का भी अनुपालन नहीं कर सकेंगे। जनमत की अभिरुचियाँ युक्तिसंगत होने की अपेक्षा भावनापूर्ण होती हैं। यदि राजनयज्ञ लोक भावावेग से प्रभावित होकर विदेश नीति सम्बन्धों निर्णय लेगा तो वह राजमर्मज्ञ के रूप में अपना अनिष्ट और साथ ही अपनी विदेश-नीति का अनिष्ट आमन्त्रित करेगा। एक राजनयज्ञ को लोक-भावावेग के समक्ष न तो आत्मसमर्पण करना चाहिये और न ही उसे इसकी अवहेलना करनी चाहिये। उसे ऐसा मार्ग अपनाना चाहिये जिससे वह दोनों स्थितियों के अनुकूल रह सके। एक शब्द में, उसे नेतृत्व अवश्य होगा। मॉर्गन्थो (Morgenthau) ने यह प्रतिपादित किया है कि "यदि कोई राष्ट्र राजनय को प्रयोग में नहीं लाना चाहता अथवा उसके पास राजनय को कार्यान्वित करने की क्षमता नहीं है तो वह अपने राष्ट्रीय हित सम्बर्द्धन के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प का सहारा नहीं ले सकता। यदि वह युद्ध का सहारा भी नहीं लेना चाहता या नहीं ले सकता तो उसे अपने राष्ट्रीय हितों का परित्याग करना होगा।" इस प्रकार से राजनय शांति के संरक्षण का सबसे उत्तम साधन है।

6.6 सारांश

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि राजनय मानव द्वारा शान्ति प्राप्ति का एक सर्वाधिक प्रभावकारी साधन है। यही एकमात्र ऐसा विकल्प है जिस पर मानव निर्भर कर सकता है। थोड़ी सतर्कता और सावधानी से राजनय का भविष्य निश्चित उज्ज्वल है।

6.7 प्रश्नावली

1. राजनय से आपका क्या अभिप्राय है? प्राचीन राजनय की विशेषताओं के समय, गुण व दोष का वर्णन कीजिए।
2. नवीन राजनय के उदय के प्रमुख कारणों का विस्तार से वर्णन करें।
3. प्राचीन व नवीन राजनय का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. नवीन राजनय की विशेषताओं का वर्णन करते हुए इसके गुण व दोष पर प्रकाश डालिए।
5. नवीन राजनय के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भविष्य की चर्चा कीजिए।

6.8 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—7

शीत युद्ध

अध्याय का ढांचा

7.1 प्रस्तावना

7.1.1 अध्याय के उद्देश्य

7.2 शीतयुद्ध क्या है?

7.2.1 उत्पत्ति के कारण

7.2.1.1 सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते का पालन न करना

7.2.1.2 सोवियत संघ और अमेरिका के वैचारिक मतभेद

7.2.1.3 सोवियत संघ का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरना

7.2.1.4 ईरान में सोवियत हस्तक्षेप

7.2.1.5 टर्की में सोवियत हस्तक्षेप

7.2.1.6 यूनान में साम्यवादी प्रसार

7.2.1.7 द्वितीय मोर्चे सम्बन्धी विवाद

7.2.1.8 तुष्टिकरण की नीति

7.2.1.9 सोवियत संघ द्वारा बाल्कान समझौते की उपेक्षा

7.2.1.10 अमेरिका का परमाणु कार्यक्रम

7.2.1.11 परस्पर विरोधी प्रचार

7.2.1.12 लैंड-लीज समझौते का समापन

7.2.1.13 फासीवादी ताकतों को अमेरिका सहयोग

7.2.1.14 बर्लिन विवाद

7.2.1.15 सोवियत संघ द्वारा वीटो शक्ति का बार बार प्रयोग किया जाना

7.2.1.16 संकीर्ण राष्ट्रवाद पर आधारित संकीर्ण राष्ट्रीय हित

7.2.2 शीत युद्ध के विकास के चरण

7.2.2.1 प्रथम चरण, 1946—1953

7.2.2.2 दूसरा चरण, 1953—1963

7.2.2.3 तीसरा चरण, 1963—1979

7.2.2.4 चतुर्थ चरण, 1980–1989

7.2.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

7.3 सारांश

7.4 प्रश्नावली

7.5 पाठ्य सामग्री

7.1 प्रस्तावना

शीतयुद्ध वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम रहा है जिसने सम्पूर्ण विश्व की राजनीति को प्रभावित किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दो शक्तियों – अमेरिका एवं सोवियत संघ–का महाशक्तियों के रूप से उभरना तथा आपसी प्रतिद्वंद्विता रखने के कारण शीतयुद्ध का जन्म हुआ। इसके साथ-साथ दोनों ही शक्तियों द्वारा दो विरोधी विचारधाराओं – पूंजीवाद एवं साम्यवाद – का नेतृत्व करने से इसे और जटिल बना दिया। दोनों महाशक्तियों के मध्य यह विभेद एवं टकराव केवल द्विपक्षीय स्तर तक ही सीमित नहीं था। बल्कि दोनों द्वारा सम्पूर्ण विश्व पर अपनी विचारधारा की श्रेष्ठता स्थापित करने की होड़ लगी हुई थी।

इसी टकराव की राजनीति ने सारे विश्व राजनीति को दो भागों में बांट दिया तथा यह प्रक्रिया 1945 से 1991 तक निरन्तर चलती रही। विभिन्न चरणों में उतार-चढ़ाव अवश्य आये, परन्तु टकराव की स्थिति बनी रही। बाद में 1989–91 तक के यूरोप के घटनाक्रम के कारण सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों में साम्यवाद के पतन के बाद शीतयुद्ध का अन्त हुआ। 1945 से लेकर 1991 में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए बदलावों को समझे बिना तत्कालिन विश्व राजनीति को समझना मुश्किल ही नहीं बल्कि ना मुमकिन है।

7.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय के मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को शीतयुद्ध की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अवगत कराना है। इसके अन्तर्गत मूलरूप से शीतयुद्ध के प्रमुख कारणों का विस्तृत वर्णन है। इसके साथ-साथ शीतयुद्ध की गतिविधियों में आए अन्तर्राष्ट्रीय बदलावों का अध्ययन भी शामिल है। इस समय विश्व राजनीति में आए उतार-चढ़ावों को शीतयुद्ध के विकास के चरणों के अध्ययन द्वारा समझाने के प्रयास किए गए हैं। अन्ततः इन बदलावों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति किस प्रकार प्रभावित हुई इसका भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। अतः इस अध्याय का मुख उद्देश्य 1945 से 1991 तक की विश्व राजनीति के मूल्यांकन के रूप में देखा जा सकता है।

7.2 शीतयुद्ध क्या है?

शीतयुद्ध की अवधारणा का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 1945 में हुआ, यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक सच्चाई है जो अमेरिका तथा सोवियत संघ के पारस्परिक सम्बन्धों को उजागर करती है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक नया अध्याय है। इसे एक नया अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक विकास का नाम भी दिया जा सकता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य मित्रता का जो नया अध्याय शुरू हुआ था, वह युद्ध के बाद समाप्त हो गया, दोनों महाशक्तियों में पारस्परिक मतभेद और वैमनस्य की भावना और अधिक गहरी होती गई और दोनों एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास करने लग गए। इस प्रयास से दोनों में कूटनीतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग की बजाय एक संघर्षपूर्ण स्थिति का जन्म हो

गया। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर दोनों शक्तियां एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने लग गईं। अंतर्राष्ट्रीय जगत में अपना-अपना वर्चस्व सिद्ध करने के प्रयास में दोनों महाशक्तियां विश्व के अधिकांश राज्यों को अपने-अपने पक्ष में लाने के लिए नए-नए तरीके तलाश करने लगीं। इससे समूचे विश्व में अशांति का वातावरण बन गया और अन्त में विश्व को दो शक्तिशाली गुटों-पूँजीवादी गुट और साम्यवादी गुट में विभाजन हो गया जिसमें प्रथम का नेतृत्व अमेरिका और दूसरे का नेतृत्व सोवियत संघ करने लगा।

यह केवल परोक्ष युद्ध तक ही सीमित रहा। इस युद्ध में दोनों महाशक्तियां अपने वैचारिक मतभेद ही प्रमुख रहे। यह एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध था जो महाशक्तियों के संकीर्ण स्वार्थ सिद्धियों के प्रयासों पर ही आधारित रहा।

यह युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य पैदा हुआ अविश्वास व शंका की अन्तिम परिणति था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शीतयुद्ध दो महाशक्तियों के मध्य स्थापित आन्तरिक तनाव का स्थिति थी, जो कूटनीतिक उपायों पर आधारित थी। यह दोनों महाशक्तियों के मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न तनाव की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति था। यह वैचारिक युद्ध होने के कारण वास्तविक युद्ध से भी अधिक भयानक था।

7.2.1 उत्पत्ति के कारण

शीतयुद्ध के लक्षण द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही प्रकट होने लगे थे। दोनों महाशक्तियां अपने-अपने संकीर्ण स्वार्थों को ही ध्यान में रखकर युद्ध लड़ रही थी और परस्पर सहयोग की भावना का दिखावा कर रही थी। जो सहयोग की भावना युद्ध के दौरान दिखाई दे रही थी, वह युद्ध के बाद समाप्त होने लगी थी और शीतयुद्ध के लक्षण स्पष्ट तौर पर उभरने लग गए थे, दोनों गुटों में ही एक दूसरे की शिकायत करने की भावना बलवती हो गई थी। इन शिकायतों के कुछ सुदृढ़ आधार थे। ये पारस्परिक मतभेद ही शीतयुद्ध के प्रमुख कारण थे, शीतयुद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं –

7.2.1.1 सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते का पालन न किया जाना

याल्टा सम्मेलन 1945 में रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन के बीच में हुआ था, इस सम्मेलन में पोलैंड में प्रतिनिधि शासन व्यवस्था को मान्यता देने की बात पर सहमति हुई थी। लेकिन युद्ध की समाप्ति के समय स्टालिन ने वायदे से मुकरते हुए वहां पर अपनी लुबनिन सरकार को ही सहायता देना शुरू कर दिया। उसने वहां पर अमेरिका तथा ब्रिटेन के पर्यवेक्षकों को प्रवेश की अनुमति देने से इंकार कर दिया और पोलैंड की जनवादी नेताओं को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया। उसने समझौते की शर्तों के विपरीत हंगरी, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा बुल्गारिया में भी अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया, उसने धुरी शक्तियों के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों की मदद करने में भी हिचकिचाहट दिखाई। उसने चीन के साम्यवादी दल को भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुंचाने का प्रयास किया। उसने मंचूरिया संकट के समय अपना समझौता विरोधी रूख प्रकट किया। इस तरह याल्टा समझौते के विपरीत कार्य करके सोवियत संघ ने आपसी अविश्वास व वैमनस्य की भावना को ही जन्म दिया जो आगे चलकर शीत युद्ध का आधार बनी।

7.2.1.2 सोवियत संघ और अमेरिका के वैचारिक मतभेद

युद्ध के समय ही इन दोनों महाशक्तियों में वैचारिक मतभेद उभरने लगे थे। सोवियत संघ सामाजवाद को बढ़ावा देना चाहता था जबकि अमेरिका पूँजीवाद का प्रबल समर्थक था, सोवियत संघ ने समाजवादी आन्दोलनों को बढ़ावा देने की जो नीति अपनाई उसने अमेरिका के मन के अविश्वास की भावना को जन्म दे दिया। सोवियत संघ ने अपनी इस नीति को न्यायपूर्ण और आवश्यक बताया। इससे पूँजीवाद को गहरा आघात पहुंचाया और अनेक पूँजीवादी राष्ट्र अमेरिका के पक्ष में होकर सोवियत संघ की समाजवादी नीतियों की निंदा करने लगे। इस प्रकार

पूँजीवाद बनाम समाजवादी विचारधारा में तालमेल के अभाव के कारण दोनों महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध का जन्म हुआ।

7.2.1.3 सोवियत संघ का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरना

सोवियत संघ ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही अपने राष्ट्रीय हितों में वृद्धि करने के लिए प्रयास शुरू कर दिये थे। 1917 की समाजवादी क्रान्ति का प्रभाव दूसरे राष्ट्रों पर भी पड़ने की सम्भावना बढ़ गई थी। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान उसके शक्ति प्रदर्शन ने पश्चिमी राष्ट्रों के मन में ईर्ष्या की भावना पैदा कर दी थी और पश्चिमी शक्तियों को भय लगने लगा था कि सोवियत संघ इसी ताकत के बल पर पूरे विश्व में अपना साम्यवादी कार्यक्रम फैलाने का प्रयास करेगा। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तो वे चुप रहे लेकिन युद्ध के बाद उन्होंने सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति पर चिन्ता जताई। उन्होंने सोवियत संघ विरोधी नीतियां अमल में लानी शुरू कर दी। उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों को सोवियत संघ के विरुद्ध एकजुट करने के प्रयास तेज कर दिए। इससे शीत-युद्ध को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक ही था।

7.2.1.4 ईरान में सोवियत हस्तक्षेप

सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद 6 महीने के अन्दर ही ईरान से अपनी सेनाएं वापिस बुलाने का समझौता किया था। युद्ध की समाप्ति पर पश्चिमी राष्ट्रों ने तो वायदे के मुताबिक दक्षिणी ईरान से अपनी सेनाएं हटाने का वायदा पूरा कर दिया लेकिन सोवियत संघ ने ऐसा नहीं किया। उसने ईरान पर दबाव बनाकर उसके साथ एक दीर्घकालीन तेल समझौता कर लिया। इससे पश्चिमी राष्ट्रों के मन में द्वेष की भावना पैदा हो गई। बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव पर ही उसने उत्तरी ईरान से सेनाएं हटाई। सोवियत संघ की इस समझौता विरोधी नीति ने शीत युद्ध को जन्म दिया।

7.2.1.5 टर्की में सोवियत हस्तक्षेप

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ ने टर्की के कुछ प्रदेश और वास्फोरस में एक सैनिक अड्डा बनाने के लिए दबाव डाला। अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध थे। इस दौरान अमेरिका ने ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन करके टर्की को हर सम्भव सहायता देने का प्रयास किया ताकि वहां पर साम्यवादी प्रभाव को कम किया जा सके। इन परस्पर विरोधी कार्यवाहियों ने शीत युद्ध को बढ़ावा दिया।

7.2.1.6 यूनान में साम्यवादी प्रसार

1944 के समझौते के तहत यूनान पर ब्रिटेन का अधिकार उचित ठहराया गया था। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपने आर्थिक विकास के दृष्टिगत वहां से अपने सैनिक ठिकाने वापिस हटा लिये। सोवियत संघ ने यूनान में गृहयुद्ध छिड़ने पर वहां के साम्यवादियों की मदद करनी शुरू कर दी। पश्चिमी शक्तियाँ परम्परागत सरकार का समर्थन करने के लिए आगे आईं। अमेरिका ने मार्शल योजना और ट्रूमैन सिद्धान्त के तहत यूनान में अपनी पूरी ताकत लगा दी। इससे साम्यवादी कार्यक्रम को यूनान में गहरा धक्का लगा और सोवियत संघ का सपना चकनाचूर हो गया अतः इस वातावरण में शीतयुद्ध को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक ही था।

7.2.1.7 द्वितीय मोर्चे सम्बन्धी विवाद

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर के नेतृत्व में जब जर्मन सेनाएं तेजी से सोवियत संघ की तरफ बढ़ रही थी तो सोवियत संघ ने अपनी भारी जान-माल के नुकसान को रोकने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से सहायता की मांग की। सोवियत संघ ने कहा कि पश्चिमी शक्तियों को जर्मनी का वेग कम करने के लिए सोवियत संघ में जल्दी ही दूसरा मोर्चा खोलना चाहिए ताकि रूसी सेना पर जर्मनी का दबाव कम हो सके। लेकिन पश्चिमी शक्तियों ने जान बूझकर दूसरा मोर्चा खोलने में बहुत देर की। इससे जर्मन सेनाओं को रूस में भयानक तबाही करने का मौका मिल

गया। इससे सोवियत संघ के मन पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध नफरत की भावना पैदा हो गई जो आगे चलकर शीत-युद्ध के रूप में प्रकट हुई।

7.2.1.8 तुष्टिकरण की नीति

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान पश्चिमी शक्तियों ने धुरी शक्तियों (जापान, जर्मनी व इटली) के आक्रमणों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की रक्षा करने की बजाय तुष्टिकरण की नीति अपनाई। उन्होंने जानबूझकर अपने मित्र राष्ट्रों को सहायता नहीं पहुंचाई और अपने मित्र राष्ट्रों को धुरी शक्तियों के हाथों पराजित होने देने के लिए बाध्य किया। इससे युद्ध पूर्व किए गए सन्धियों व समझौतों के प्रति अनेक मन में अविश्वास की भावना पैदा हुई जिससे आगे चलकर शीत युद्ध के रूप में परिणति हुई।

7.2.1.9 सोवियत संघ द्वारा बाल्कान समझौते की उपेक्षा

बाल्कान समझौते के तहत 1944 में पूर्वी यूरोप का विभाजन करने पर सोवियत संघ तथा ब्रिटेन में सहमति हुई थी। इसके तहत बुल्गारिया तथा रूमानिया पर सोवियत संघ का तथा यूनान पर ब्रिटेन का प्रभाव स्वीकार करने पर सहमति हुई थी। हंगरी तथा यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव मानने की बात कहीं गई थी। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ ने ब्रिटेन के प्रभाव की उपेक्षा करके अपने साम्यवादी प्रसार को तेज कर दिया और उन देशों में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करा दी। इससे पश्चिमी राष्ट्रों ने गैर-समझौतावादी कार्य कहा। इससे सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियों में दूरियां बढ़ने लगी और शीत युद्ध का वातावरण तैयार हो गया।

7.2.1.10 अमेरिका का परमाणु कार्यक्रम

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका ने गुप्त तरीके से अपना परमाणु कार्यक्रम विकसित किया और सोवियत संघ की सहमति के बिना ही उसने जापान के दो शहरों पर परमाणु बम गिरा दिए। अमेरिका ने अपनी युद्ध तकनीक की जानकारी सोवियत संघ को न देकर एक अविश्वास की भावना को जन्म दिया। इससे सोवियत संघ व पश्चिमी शक्तियों के बीच सहयोग के कार्यक्रमों को गहरा आघात पहुंचा। सोवियत संघ अमेरिका के परमाणु कार्यक्रम पर एकाधिकार को सहन नहीं कर सकता था। इससे उसके मन में यह शंका पैदा हो गई कि पश्चिमी राष्ट्रों को उससे घृणा है। इसी भावना ने शीतयुद्ध को जन्म दिया।

7.2.1.11 परस्पर विरोधी प्रचार

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों महाशक्तियाँ एक दूसरे के खिलाफ प्रचार अभियान में जुट गईं। 1946 में सोवियत रूस ने 'कैनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। इससे सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रों में सोवियत संघ के साम्यवादी प्रचार की जोरदार निन्दा हुई। इससे सोवियत संघ भी सतर्क हो गया और उसने अमेरिका की जोरदार आलोचना करना शुरू कर दिया, मुनरों सिद्धान्त इसका स्पष्ट उदाहरण है जिसमें साम्यवादी ताकतों को पश्चिमी गोलार्द्ध में अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रति सचेत रहने को कहा गया। इसी तरह ट्रूमैन सिद्धान्त तथा अमेरिकन सीनेट द्वारा खुले रूप से सोवियत विदेश नीति की आलोचना की जाने लगी। इसके बाद सोवियत संघ ने अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध साम्यवादी ताकतों को इकट्ठा करने के लिए जोरदार प्रचार अभियान चलाया। इस प्रचार अभियान ने परस्पर वैमनस्य की शंका की भावना को जन्म दिया जो आगे चलकर शीतयुद्ध के रूप में दुनिया के सामने आया।

7.2.1.12 लैंड-लीज समझौते का समापन

द्वितीय विश्व के दौरान अमेरिका तथा सोवियत संघ में जो समझौता हुआ था उसके तहत सोवियत संघ को जो, अपर्याप्त सहायता मिल रही थी, पर भी अमेरिका ने किसी पूर्व सूचना के बिना ही बन्द कर दी। इस निर्णय से सोवियत संघ का नाराज होना स्वाभाविक ही था। सोवियत संघ ने इसे अमेरिका की सोची समझी चाल मानकर

उसके विरुद्ध अपना रवैया कड़ा कर दिया। इससे दोनों महाशक्तियों में आपसी अविश्वास की भावना अधिक बलवती हुई और इससे शीतयुद्ध का वातावरण तैयार हो गया।

7.2.1.13 फासीवादी ताकतों को अमेरिकन सहयोग

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देश इटली से अपने सम्बन्ध बढ़ाने के प्रयास करने लग गए। इससे सोवियत संघ को शक हुआ कि इटली में फासीवाद को बढ़ावा देने तथा साम्यवाद को कमजोर करने में इन्हीं ताकतों का हाथ है। इससे सोवियत संघ को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी भूमिका सिमटती नजर आई। इस सोच ने दोनों के मध्य दूरियां बढ़ा दी।

7.2.1.14 बर्लिन विवाद

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही सोवियत संघ का पूर्वी बर्लिन पर तथा अमेरिका तथा ब्रिटेन का पश्चिमी बर्लिन पर अधिकार हो गया था। युद्ध के बाद पश्चिमी ताकतों ने अपने क्षेत्राधिनि बर्लिन प्रदेश में नई मुद्रा का प्रचलन शुरू करने का फैसला किया। इस फैसले के विरुद्ध जून 1948 में बर्लिन की नाकेबन्दी सोवियत संघ ने कर दी। इसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ व अमेरिका या ब्रिटेन के बीच हुए प्रोटोकॉल का उल्लंघन हो गया। इसके लिए सोवियत संघ को पूर्ण रूप से दोषी माना गया। सोवियत संघ अपना दोष स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इससे मामला सुरक्षा परिषद् में पहुंच गया और दोनों महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध के बादल मंडराने लग गए।

7.2.1.15 सोवियत संघ द्वारा वीटो शक्ति का बार बार प्रयोग किया जाना

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। इस संस्था में पांच देशों को वीटो पावर प्राप्त हुई। सोवियत संघ ने बार-बार अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके पश्चिमी राष्ट्रों के प्रत्येक सुझाव को मानने से इंकार कर दिया, इस तरह अमेरिका तथा पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में लाए गए प्रत्येक प्रस्ताव को हार का सामना करना पड़ा। इससे अमेरिका तथा पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ की आलोचना करने लगे और उनसे परस्पर तनाव का माहौल पैदा हो गया जिसने शीत युद्ध को जन्म दिया।

7.2.1.16 संकीर्ण राष्ट्रवाद पर आधारित संकीर्ण राष्ट्रीय हित

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका तथा सोवियत संघ अपने स्वार्थों को साधने में लग गए। वे लगातार एक दूसरे के हितों की अनदेखी करते रहे। इससे शक्ति राजनीति का जन्म हुआ। इससे प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे का शत्रु बन गया। दोनों महाशक्तियां अपना अपना प्रभुत्व बढ़ाने के प्रयास में अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का अखाड़ा बन गईं। उनके स्वार्थमयी हितों ने धीरे धीरे पूरे विश्व में तनाव का वातावरण पैदा कर दिया।

7.2.2 शीत युद्ध के विकास के चरण

शीत युद्ध का विकास धीरे-धीरे हुआ। इसके लक्षण 1917 में ही प्रकट होने लगे थे जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्पष्ट तौर पर उभरकर विश्व रंगमंच पर आए। इसको बढ़ावा देने में दोनों शक्तियों के बीच व्याप्त परस्पर भय और अविश्वास की भावना ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। दोनों महाशक्तियों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध चली गईं चालों ने इस शीतयुद्ध को सबल आधार प्रदान किया और अन्त में दोनों महाशक्तियों खुलकर एक दूसरे की आलोचना करने लगी और समस्त विश्व में भय व अशान्ति का वातावरण तैयार कर दिया, इसके बढ़ावा देने में दोनों महाशक्तियां बराबर की भागीदार रही। इसके विकास क्रम को निम्नलिखित चरणों में समझा जा सकता है –

7.2.2.1 प्रथम चरण (1946 से 1953)

इस समय के दौरान शीतयुद्ध का असली रूप उभरा। अमेरिका व सोवियत संघ के मतभेद खुलकर सामने आए। इस काल में शीत युद्ध को बढ़ाने देने वाली प्रमुख घटनाएं निम्नलिखित हैं –

1. 1946 में चर्चिल ने सोवियत संघ के साम्यवाद की आलोचना की। उसने अमेरिका के फुल्टन नामक स्थान पर आगल-अमरीकी गठबन्धन को मजबूत बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इसमें सोवियत संघ विरोधी भावना स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आई। अमेरिकी सीनेट ने भी सोवियत संघ की विदेश नीति को आक्रामक व विस्तारवादी बताया गया। इससे शीत युद्ध को बढ़ावा मिला।
2. मार्च 1947 में ट्रूमैन सिद्धान्त द्वारा साम्यवादी प्रसार रोकने की बात कहीं गई। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व के किसी भी भाग में अमेरिका हस्तक्षेप को उचित ठहराया गया। यूनान, तथा टर्की में अमेरिका द्वारा हस्तक्षेप करके सोवियत संघ के प्रभाव को कम करने की बात स्वीकार की गई। अमेरिका ने आर्थिक सहायता के नाम पर हस्तक्षेप करने की चाल चलकर शीतयुद्ध को भड़काया और विश्व शांति को भंग कर दिया।
3. 23 अप्रैल 1947 को अमेरिका द्वारा प्रतिपादित मार्शल योजना ने भी सोवियत संघ के मन में अविश्वास व वैमनस्य की भावना को बढ़ावा दिया। इसे योजना के अनुसार पश्चिमी यूरोपीय देशों को 12 अरब डालर की आर्थिक सहायता देने का कार्यक्रम स्वीकार किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य पश्चिमी यूरोपीय देशों में साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। इस योजना का लाभ उठाने वाले देशों पर यह शर्त लगाई गई कि वे अपनी शासन व्यवस्था से साम्यवादियों को दूर रखेंगे। इससे सोवियत संघ के मन में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति घृणा का भाव पैदा हो गया और शीत युद्ध को बढ़ावा मिला।
4. सोवियत संघ ने 1948 में बर्लिन की नाकेबन्दी करके शीत युद्ध को और अधिक भड़का दिया। अमेरिका ने इसका सख्त विरोध करके उसके इरादों को नाकाम कर दिया और वह भी वहां अपना सैनिक वर्चस्व बढ़ाने की तैयारी में जुट गया। इस प्रतिस्पर्धा से शीत युद्ध का माहौल विकसित हुआ।
5. जर्मनी के विभाजन ने भी दोनों महाशक्तियों में विरोध की प्रवृत्ति को जन्म दिया, जर्मनी का बंटवारा इसलिए हुआ था कि दोनों शक्तियां अपने-अपने क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ा सकें। लेकिन अमेरिका की मार्शल योजना तथा सोवियत संघ की 'कोमिकान' की नीति ने यूरोप को सोवियत संघ तथा अमेरिका के मध्य शीत युद्ध को बढ़ावा दिया।
6. 1949 में अमेरिका ने अपने मित्र राष्ट्रों के सहयोग से नाटो (NATO) जैसे सैनिक संघ का निर्माण किया। इसका उद्देश्य उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने के लिए किसी भी बाहरी खतरे से कारगर ढंग से निपटना था। इस सन्धि में सोवियत संघ को सीधी चेतावनी दी गई कि यदि उसने किसी भी सन्धि में शामिल देश पर आक्रमण किया तो उसके भयंकर परिणाम होंगे। इससे अमेरिका और सोवियत संघ के बीच मतभेद और अधिक गहरे होते गए।
7. अक्टूबर 1949 में चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना होने से अमेरिका का विरोध अधिक प्रखर हो गया। उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन की सदस्यता को चुनौती दी। इससे सोवियत संघ और अमेरिका में शीत युद्ध का वातावरण और अधिक सबल होने लग गया।
8. 1950 में कोरिया संकट ने भी अमेरिका और सोवियत संघ में शीत युद्ध में वृद्धि की। इस युद्ध में उत्तरी कोरिया को सोवियत संघ तथा दक्षिणी कोरिया को अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन व सहयोग प्राप्त था, दोनों महाशक्तियों ने परस्पर विरोधी व्यवहार का प्रदर्शन करके शीतयुद्ध के वातावरण में और अधिक गर्मी पैदा कर दी। कोरिया युद्ध का तो हल हो गया लेकिन दोनों महाशक्तियों में आपसी टकराव की स्थिति कायम रही।
9. 1951 में जब कोरिया युद्ध चल ही रहा था, उसी समय अमेरिका ने अपने मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर

जापान से शान्ति सन्धि की और सन्धि को कार्यरूप देने के लिए सान फ्रांसिस्को नगर में एक सम्मेलन आयोजित करने का निर्णय किया, सोवियत संघ ने इसका कड़ा विरोध किया। अमेरिका ने इसी वर्ष जापान के साथ एक प्रतिरक्षा सन्धि करके विरोध की खाई और अधिक गहरा कर दिया। अमेरिका की इन कार्यवाहियों ने सोवियत संघ के मन में द्वेष की भावना को बढ़ावा दिया इन सन्धियों को सोवियत संघ ने साम्यवाद के विस्तार में सबसे बड़ी बाधा माना और उसकी निन्दा की।

7.2.2.2 दूसरा चरण (1953–1963)

इस समय में दोनों महाशक्तियों के व्यवहार में कुछ बदलाव आने की सम्भावना दिखाई देने लगी। इस युग में दोनों के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। सोवियत संघ में स्टालिन की मृत्यु के बाद खुश्चेव ने शासन सम्भाला और अमेरिका में राष्ट्रपति आइज़न हावर ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। सोवियत संघ की तरफ से दोनों देशों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास अवश्य हुए लेकिन उनका कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला और अमेरिका तथा सोवियत संघ में शीत युद्ध का तनाव जारी रहा। इस दौरान कुछ घटनाएं घटी जिन्होंने शीत युद्ध को बढ़ावा दिया।

1. 1953 में सोवियत संघ ने पांच आणविक परीक्षण शृंखला किया, इससे अमेरिका के मन में सोवियत संघ के इरादों के प्रति शक पैदा हो गया।
2. 1953 में चर्चिल ने अमेरिका से कहा कि दक्षिण पूर्वी एशिया के लिए नाटों जैसे संघ का निर्माण किया जाए। उसके सुझाव को मानकर अमेरिका ने कम्बोडिया, वियतनाम और लाओस में साम्यवादी प्रसार रोकने के उद्देश्यों से 8 सितम्बर, 1954 को सीटो (SEATO) का निर्माण किया। उधर सोवियत संघ ने वार्सा पैक्ट की तैयारी कर ली। वार्सा संगठन के निर्माण का उद्देश्य पूंजीवादी ताकतों के आक्रमणों को रोकना था। इस तरह परस्पर विरोधी गुटों की स्थापना द्वारा शीत युद्ध को और अधिक भड़काया गया।
3. हिन्द चीन की समस्या ने भी दोनों महाशक्तियों के मध्य मतभेदों को और अधिक गहरा कर दिया। 1954 में हिन्द-चीन में गृह युद्ध आरम्भ हो गया। यह क्षेत्र फ्रांस का उपनिवेश था। सोवियत संघ ने होचि मिन की सेनाओं की मदद की और अमेरिका ने फ्रांसीसी सेनाओं का समर्थन किया। हिन्द-चीन की समस्या को सुलझाने के लिए जेनेवा समझौता हुआ लेकिन कुछ समय बाद ही वियतनाम में गृह-युद्ध शुरू हो गया। सोवियत संघ ने अमेरिका की इस युद्ध में भूमिका की निन्दा की। उसने अमेरिका के वियतनाम में अनुचित हस्तक्षेप के विरुद्ध आवाज उठाई। इस तरह वियतनाम युद्ध अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध का प्रमुख कारण बन गया।
4. 1956 में हंगरी में सोवियत संघ के हस्तक्षेप ने भी शीत युद्ध को और अधिक भड़काया।
5. 1956 में ही स्वेज नहर संकट ने दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव में वृद्धि की। सोवियत संघ ने इस संकट में मिस्र का साथ दिया और अमेरिका को धमकी दी कि यदि उसने ब्रिटेन फ्रांस तथा इज्राइल की सहायता की तो वह भी मिस्र का साथ देगा। स्वेज नहर संकट का तो समाधान हो गया लेकिन दोनों महाशक्तियों में तनाव ज्यों का त्यों बना रहा।
6. जून 1957 में आइज़नहावर सिद्धान्त के अंतर्गत अमेरिका की कांग्रेस ने राष्ट्रपति को साम्यवाद के खतरों का सामना करने के लिए सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग करने का अधिकार प्रदान करके पश्चिमी एशिया को शीत युद्ध का अखाड़ा बना दिया।
7. शीतयुद्ध के तनाव को कम करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति आइज़न हॉवर ने सोवियत संघ की यात्रा करने का निर्णय किया। लेकिन यात्रा से एक दिन पूर्व ही। मई 1960 को अमेरिका का जासूसी विमान U-2

(यू-2) सोवियत सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। विमान चालक ने यह स्वीकार किया कि उसे सोवियत संघ में सैनिक ठिकानों की जासूसी करने के लिए भेजा गया है। इसे सोवियत संघ ने गंभीरता से लिया और अमेरिका से अपनी गलती स्वीकार करने को कहा। लेकिन अमेरिका ने अपनी गलती न मानकर शीतयुद्ध को और अधिक बढ़ावा दिया।

8. 16 मई 1960 में पेरिस सम्मेलन में सोवियत राष्ट्रपति खुश्चेव ने U-2 की घटना को दोहराया और कहा कि भविष्य में अमेरिकी राष्ट्रपति को सोवियत संघ न आने की चेतावनी भी थी। सम्मेलन के दूसरे सत्र का भी सोवियत संघ ने बहिष्कार करके अपनी नाराजगी जाहिर कर दी। इस तरह अमेरिका और सोवियत संघ में तनाव पहले जैसा ही बना रहा।
9. जून 1961 में खुश्चेव द्वारा पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक संधि पर हस्ताक्षर करने की धमकी ने भी शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया।
10. अगस्त 1961 में बर्लिन शहर में सोवियत संघ ने पश्चिमी शक्तियों के क्षेत्र को अलग करने के लिए दीवार बनानी शुरू कर दी। इसका अमेरिका ने कड़ा विरोध किया। दोनों ने अपनी-अपनी सेनाएं युद्ध के लिए एकत्रित करनी आरम्भ कर दी। लेकिन बड़ी मुश्किल से शीतयुद्ध गर्म युद्ध में परिवर्तित होते होते रह गया। लेकिन दोनों के बीच तनाव बरकरार रहा।
11. 1962 में क्यूबा में सोवियत संघ ने अपने सैनिक अड्डे की स्थापना कर दी। इसका अमेरिका के राष्ट्रपति कैंनेडी ने कड़ा विरोध किया। इस अड्डे की स्थापना को सीधे तौर पर अमेरिका को कमजोर करने वाली कार्यवाही कहा जा सकता। अमेरिका ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी ताकि क्यूबा में सोवियत सैनिक सहायता न पहुंच सके। विवाद को ज्यादा बढ़ता देख सोवियत संघ ने अपने कदम पीछे हटा लिए और भयंकर विवाद को सुलझा लिया। लेकिन दोनों महाशक्तियों के मन का मैल नहीं साफ हुआ और शीतयुद्ध का वातावरण पहले जैसा ही रहा।

इस प्रकार इस युग में शीत युद्ध को बढ़ावा देने वाली कार्यवाहियां दोनों तरफ से हुईं। लेकिन दोनों महाशक्तियों ने शीत युद्ध के तनाव को कम करने के दिशा में भी कुछ प्रयास किए। खुश्चेव ने दोनों देशों के मध्य सम्बन्ध मधुर बनाने और तनाव कम करने के लिए 15 सितम्बर से 28 सितम्बर 1959 तक अमेरिका की यात्रा की। 5 सितम्बर 1963 को अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन के बीच 'मास्को आंशिक परमाणु अप्रसार सन्धि' हुई। इससे शीत युद्ध को समाप्त करने का सकारात्मक कदम कहा गया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने भी इस दौरान शीत युद्ध को कम करने का प्रयास किया लेकिन इन सभी प्रयासों के परिणाम नकारात्मक ही रहे और दोनों महाशक्तियों में तनाव बना रहा।

7.2.2.3 शीत युद्ध के विकास का तीसरा रचण – 1963 से 1979 तक

1962 में क्यूबा संकट के बाद शीत युद्ध के वातावरण में कुछ नरमी आई और दोनों गुटों के मध्य व्याप्त तनाव की भावना सौहार्दपूर्ण व मित्रता की भावना में बदलने के आसार दिखाई देने लग गए। इससे दोनों देशों के मध्य मधुर सम्बन्धों की शुरुआत होने के लक्षण प्रकट होने लगे। इस नरमी या तनाव में कमी को तनाव शैथिल्य (Detente) की संज्ञा दी जाती है।

तनाव शैथिल्य

क्यूबा संकट के बाद दोनों महाशक्तियों के व्यवहार में आए परिवर्तनों को तनाव शैथिल्य का नाम दिया जाता है। इसे शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व भी कहा जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रायः इसका प्रयोग अमेरिका और सोवियत संघ के बीच द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्याप्त तनाव में कमी और उनमें बढ़ने वाली सहयोग व शान्तिपूर्ण

सहअस्तित्व की भावना के लिए किया जाता है।

तनाव शैथिल्य के कारण

अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तनाव या शीत युद्ध में आई कमी के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे –

1. **आर्थिक विकास** क्यूबा मिसाइल संकट ने दोनों को सबक दिया कि वे परस्पर उलझकर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को पतन की ओर धकेल रही हैं। सोवियत संघ ने इस बात को समझते हुए उसने आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति पर जोर दिया।
2. **परमाणु युद्ध की भयावहता** परमाणु अस्त्रों की भयानकता ने दोनों महाशक्तियों को चेता दिया कि ये युद्ध भयंकर परिणाम वाले होंगे और दोनों देशों के जान माल को बहुत ज्यादा नष्ट कर देंगे। इस भय के कारण दोनों महाशक्तियां शान्ति की दिशा में पहल करने लग गईं।
3. **कच्चे माल की आवश्यकता** अमेरिका ने यह महसूस किया कि उसके उद्योगों के लिए कच्चा माल सोवियत संघ से प्राप्त किया जा सकता है। उसकी अर्थव्यवस्था का विकास कच्चे मालपर ही निर्भर है। सोवियत संघ से व्यापारिक संबंध बढ़ाने से ही कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है और लाभ उठाया जा सकता है। इसी कारण से अमेरिका ने टकराव का रास्ता छोड़ने की बात अपना ली।
4. **स्थायी शान्ति का विचार** दोनों महाशक्तियां लम्बे समय से एक दूसरे के साथ तनाव को बढ़ा रही थी। इस तनाव के चलते न तो उनके राष्ट्रीय हितों में वृद्धि सम्भव थी और न ही स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती है। स्थायी शान्ति के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं था। इसलिए दोनों शक्तियां परस्पर भेदभाव भूलकर सहयोग का रास्ता अपनाने को सहमत हो गईं।
5. **राष्ट्रीय हितों में वृद्धि** दोनों महाशक्तियों ने अनुभव किया कि लोक कल्याण को बढ़ावा देने, गरीबी निवारण, लोगों का जीवन स्तर सुधारने के लिए परस्पर तकनीकी सहयोग द्वारा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। तनाव या युद्ध किसी भी अवस्था में राष्ट्रीय हितों का संवर्धन नहीं कर सकते। इसे तो शान्ति के वातावरण में ही विकसित किया जा सकता है।
6. **वास्तविक युद्ध का भय** शीत युद्ध का वातावरण कभी भी वास्तविक युद्ध का रूप ले सकता था। इस भय ने दोनों महाशक्तियों को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनाने के लिए बाध्य कर दिया।
7. **साम्यवादी गुटबंदी का ढीलापन** चीन तथा सोवियत संघ में भी परस्पर मतभेद पैदा हो गए। सोवियत संघ ने महसूस किया कि चीन का मुकाबला करने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से मित्रता करना जरूरी है। इसलिए सोवियत संघ ने अमेरिका विरोधी रुख छोड़ दिया और सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने लग गया।
8. **गुट निरपेक्ष देशों की भूमिका** गुटनिरपेक्ष देशों ने दोनों देशों को शीतयुद्ध से बाहर निकलने के लिए प्रेरित किया। दोनों महाशक्तियों के साथ शामिल देश एक एक करके गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य बनने लग गए। इससे दोनों गुटों को विश्व राजनीति में अपनी पकड़ ढीली होती नजर आई। इससे वे अपना पुराना रास्ता छोड़कर यथार्थ दुनिया में कदम रखने को तैयार हो गए। उन्होंने गुट निरपेक्ष देशों की भूमिका को प्रशंसा करनी शुरू कर दी। इससे दोनों में व्याप्त तनाव कम होने लगा।
9. **बहुकेन्द्रवाद का जन्म** – 1963 के बाद ब्रिटेन, फ्रांस और चीन परमाणु सम्पन्न राष्ट्र बन गए। जापान, जर्मनी, भारत जैसी शक्तियां भी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र में उभरने लगे। 1975 में भारत ने भी परमाणु शक्ति हासिल करके दोनों महाशक्तियों को अपनी उपस्थिति का अहसास करा दिया। अंतर्राष्ट्रीय

राजनीति का द्विध्रुवीकरण अब बहुकेन्द्रवाद में बदलने लगा। इससे विश्व राजनीति का दो गुटों में विभाजन का विचार भंग होने लगा। ऐसे में दोनों गुटों ने टकराव का रास्त छोड़कर अपने आप को अंतर्राष्ट्रीय जगत में नई भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया।

इस प्रकार दोनों देशों के मध्य व्याप्त शीत युद्ध धीरे-धीरे तनाव शैथिल्य की दिशा में मुड़ने लगा और नए अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वातावरण तैयार हो गया जिसमें भय की बजाय शान्ति व सौहार्द का स्थान सर्वोपरि था।

तनाव-शैथिल्य के प्रयास

1963 में क्यूबा संकट के बाद दोनों महाशक्तियों ने टकराव का रास्ता छोड़कर शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति अपनाने पर विचार किया। दोनों ने आपसी तनाव को कम करने के लिए कुछ प्रयास किए जो निम्नलिखित हैं :-

1. 25 जुलाई, 1963 को दोनों देशों ने आंशिक परमाणु परीक्षण अप्रसार सन्धि की। इससे तनाव शैथिल्य को बढ़ावा मिला।
2. 1963 में ही दोनों देशों में आकस्मिक दुर्घटना में छिड़ने वाले युद्ध में निपटने के लिए हॉट लाइन समझौता हुआ।
3. दोनों देशों में तनावों को कम करने के लिए ग्लासब्रो शिखर सम्मेलन जून 1967 में हुआ। इसमें दोनों देशों ने वियतनाम तथा मध्यपूर्व पर विचारों का आदान प्रदान किया।
4. 1968 में सोवियत संघ, अमेरिका तथा ब्रिटेन ने मिलकर परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर किये।
5. 1970 में मास्को बोन समझौता हुआ। इस समझौते ने पश्चिमी जर्मनी तथा सोवियत संघ के बीच तनावपूर्ण स्थिति को समाप्त कर दिया।
6. 1971 में अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ के बीच पश्चिमी बर्लिन के बारे में एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ, जिसके अनुसार पूर्वी व पश्चिमी बर्लिन की जनता को आपसी आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इससे बर्लिन को लेकर दोनों गुटों के बीच व्याप्त तनाव में कमी आई।
7. 1972 में अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने दो जर्मन राज्यों के सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान करके जर्मनी की समस्या का समाधान कर दिया।
8. 7 जुलाई, 1973 को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के लिए फिनलैंड की राजधानी हेलसिंकी में यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन हुआ। 1974 में दूसरे यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन (ब्लाडिवास्तोक में) द्वारा शीतयुद्ध को समाप्त करने की दिशा में प्रयास किया गया।
9. 1975 में कम्बोडिया युद्ध की समाप्ति ने शीतयुद्ध के अन्य केन्द्र हिन्दचीन को समाप्त कर दिया।
10. 1975 में वियतनाम में युद्ध की समाप्ति तथा एकीकरण की प्रक्रिया से शीतयुद्ध में कमी आई।
11. 1977 में तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन (बेलग्रेड) में हेलसिंकी समझौते की भावना को मजबूत आधार प्रदान किया।
12. 26 मार्च 1979 को इस्राइल तथा मिश्र के बीच अमेरिका ने कैम्प डेविड समझौता कराकर मध्यपूर्व में संघर्ष को कम किया। इस प्रयासों के अतिरिक्त 1972 में दोनों महाशक्तियों के बीच मास्को वार्ता, 1972 का साल्ट-1 समझौता, सोवियत संघ - अमेरिका आर्थिक सहयोग, ब्रेजनेव की अमेरिकी यात्रा, 1973, अपोलो सोयज का अन्तरिक्ष में मेल, साल्ट-2 समझौता 1979, आदि प्रयासों से भी शीत युद्ध में कमी आई। लेकिन

1963 से 1970 तक शीत युद्ध के कमी के संकेत नाम मात्र के रहे। इस दौरान भारत-पाक युद्ध 1965 को लेकर दोनों महाशक्तियों में तनाव बरकरार रहा। 1967 में अरब-इजराइल युद्ध ने भी शीत युद्ध को जारी रखा। इसके दौरान शीत युद्ध में कमी लाने के प्रयास किए जाते रहे हैं और उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। इसलिए इसे तनाव शैथिल्य का निष्क्रिय काल कहा जाता है। इसकी वास्तविक प्रगति 1970 में शुरू हुई और 1979 तक यह चरम सीमा पर पहुंच गया। इस समय को तनाव शैथिल्य का सक्रिय काल कहा जाता है। इस समय तनाव शैथिल्य ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बहुत प्रभावित किया और पुराने शीतकालीन सम्बन्ध समाप्त होते नजर आए।

तनाव शैथिल्य का अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव

तनाव शैथिल्य ने शीतयुद्ध से उत्पन्न पुराने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिदृश्य बदलने लगा और विश्व में शांतिपूर्ण वातावरण का जन्म हुआ। इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में भी वृद्धि हुई और परमाणु युद्ध के आंतक से छुटकारा मिला। तनाव शैथिल्य का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर निम्न प्रभाव पड़ा –

1. इससे महाशक्तियों के बीच सहयोग और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ।
2. इससे विभाजित यूरोप का एकीकरण हुआ और व्यापारिक व सांस्कृतिक आदान-प्रदान का विस्तार हुआ।
3. इससे आतंक का संतुलन समाप्त हो गया और विश्व में तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति मिल गई।
4. इससे परमाणु शस्त्रों के नियंत्रण के प्रयास तेज हो गए।
5. इससे गुट बन्दी को गहरा आघात पहुंचा। दोनों गुटों के साथ शामिल देश भी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने लगे।
6. इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में वृद्धि हुई।
7. इसने गुट निरपेक्षता को अप्रासंगिक बना दिया।

7.2.2.4 शीत युद्ध के विकास का अन्तिम काल – 1980 से 1989 तक

1970 के दशक का तनाव शैथिल्य अफगानिस्तान संकट के जन्म लेते ही नए प्रकार के शीत युद्ध में बदल गया। इस संकट को तनाव शैथिल्य की अन्तिम शवयात्रा कहा जाता है। इससे तनाव शैथिल्य की समाप्ति हो गई और दोनों शक्तियों में लगभग एक दशक तक रहने वाला तनाव शैथिल्य के दिन लग गए और पुराने तनाव फिर से बढ़ने लगे। इसकी उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

1. सोवियत संघ की शक्ति में वृद्धि ने अमेरिका के खिलाफ अपनी पुरानी दुश्मनी आरम्भ कर दी।
2. रीगन ने राष्ट्रपति बनते ही शस्त्र उद्योग को बढ़ावा दिया और मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण करने पर बल दिया।
3. अमेरिका तथा सोवियत संघ में अन्तरिक्ष अनुसंधान की होड़ लग गई।
4. अफगानिस्तान में सोवियत संघ ने हस्तक्षेप किया, इससे शीत युद्ध में वृद्धि हुई। अमेरिका और सोवियत संघ में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई।
5. सोवियत संघ ने दक्षिण पूर्वी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया।
6. 23 मार्च, 1983 को अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने 'स्टारवार्स परियोजना' (अन्तरिक्ष युद्ध) को मंजूरी दी। इससे

नए अस्त्र-शस्त्रों की होड़ लग गई।

7. हिन्द महासागर में सोवियत संघ ने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू कर दी।
8. सोवियत संघ ने खाड़ी क्षेत्र तथा पश्चिमी एशिया में भी अपना प्रभुत्व बढ़ाने का प्रयास किया।
9. सोवियत संघ ने क्यूबा में अपनी ब्रिगेड तैनात कर दी।
10. निकारागुआ में अमेरिका ने अपना प्रभुत्व बढ़ाना शुरू कर दिया।

इस सभी कारणों से नए शीत युद्ध का जन्म हुआ तथा तनाव शैथिल्य का अन्त हो गया। इससे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नई खटास पैदा हुई अमेरिका ने खाड़ी सिद्धान्त के द्वारा विश्व शान्ति के लिए खतरा पैदा कर दिया। इस नए शीत युद्ध ने विश्व को तृतीय विश्व युद्ध के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। इससे तनाव शैथिल्य की हानि हुई और निःशस्त्रीकरण को गहरा धक्का लगा। इससे तनाव के केन्द्र अफगानिस्तान, कम्पूचिया, निकारागुआ आदि देश हो गए। यह युद्ध विचारधारा विरोधी न होकर सोवियत संघ विरोधी था। इसके अभिकर्ता अमेरिका और सोवियत संघ न होकर ब्रिटेन, फ्रांस व चीन भी थे। इस युद्ध ने सम्पूर्ण विश्व का वातावरण ही दूषित कर दिया। इसने बहुध्रुवीकरण को जन्म दिया और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नई चुनौतियों को पेश किया।

7.2.3 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

शीतयुद्ध ने 1946 से 1989 तक विभिन्न चरणों से गुजरते हुए अलग-अलग रूप में विश्व राजनीति को प्रभावित किया। इसने अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य तनाव पैदा करने के साथ-साथ अन्य प्रभाव भी डाले। इसके अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े –

1. इससे विश्व को दो गुटों में – सोवियत गुट तथा अमेरिकन गुट में विभाजन हो गया। विश्व की प्रत्येक समस्या को गुटीय स्वार्थों पर ही परखा जाने लगा।
2. इससे यूरोप का विभाजन हो गया।
3. इसने विश्व में आतंक और भय में वृद्धि की। इससे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तनाव, प्रतिस्पर्धा और अविश्वास की भावना का जन्म हुआ, गर्म युद्ध का वातावरण तैयार हो गया। शीतयुद्ध कभी भी वास्तविक युद्ध में बदल सकता था।
4. इससे आणविक युद्ध की सम्भावना में वृद्धि हुई और परमाणु शस्त्रों के विनाश के बारे में सोचा जाने लगा। इस सम्भावना ने विश्व आणविक शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा दिया।
5. इससे नाटो, सीटो, सेण्टो तथा वारसा पैक्ट जैसे सैनिक संगठनों का जन्म हुआ, जिससे निशस्त्रीकरण के प्रयासों को गहरा धक्का लगा और इससे निरंतर तनाव की स्थिति बनी रही।
6. इसने संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में कमी कर दी। अब अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर संयुक्त राष्ट्र संघ दोनों महाशक्तियों के निर्णयों पर ही निर्भर हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ समस्याओं के समाधान का मंच न होकर अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का अखाड़ा बन गया जिसमें दोनों महाशक्तियां अपने-अपने दांव चलने लगी।
7. इससे शस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला और विश्व शान्ति के लिए भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया, दोनों महाशक्तियां अपनी-अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करने के लिए पैसा पानी की तरह बहाने लगी जिससे वहां का आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

8. इसने सुरक्षा परिषद् को पंगु बना दिया। जिस सुरक्षा परिषद् के ऊपर विश्व शान्ति का भार था, वह अब दो महाशक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बन गई। परम्परा विरोधी व्यवहार के कारण अपनी वीटो शक्ति का उन्होंने बार-बार प्रयोग किया।
9. इससे जनकल्याण की योजनाओं को गहरा आघात पहुंचा। दोनों महाशक्तियां शक्ति की राजनीति में विश्वास रखने के कारण तीसरी दुनिया के देशों में व्याप्त समस्याओं के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाती रही।
10. इसने शक्ति संतुलन के स्थान पर आतंक के संतुलन को जन्म दिया।
11. इसने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को सबल आधार प्रदान किया।
12. विश्व में नव उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।
13. विश्व राजनीति में परोक्ष युद्धों की भरमार हो गई।
14. इससे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों का विकास हुआ।
15. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार तथा कूटनीति के महत्व को समझा जाने लगा।

इस तरह कहा जा सकता है कि शीतयुद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर व्यापक प्रभाव डाले। इसने समस्त विश्व का दो गुटों में विभाजन करके विश्व में संघर्ष की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। इसने शक्ति संतुलन के स्थान पर आतंक का संतुलन कायम किया। लेकिन नकारात्मक प्रभावों के साथ-साथ इसके कुछ सकारात्मक प्रभाव भी पड़े। इससे तकनीकी और प्राविधिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। इससे यथार्थवादी राजनीति का आविर्भाव हुआ और विश्व राजनीति में नए राज्यों की भूमिका को भी महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

7.3 सारांश

इस अध्याय का मूल सार 1945 से 1991 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आये उतार-चढ़ाव को समझना है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम शीतयुद्ध के कारणों का विस्तृत रूप से वर्णन दिया है। इसके बाद शीतयुद्ध के विकास के चरणों के रूप में दोनों महाशक्तियों के सहयोग एवं संघर्षों की स्थिति को स्पष्ट किया गया है। यह घटनाक्रम इतनी व्यापक थी कि इसने सारे विश्व को दो भागों में बाँट दिया। विश्व न केवल पूंजीवाद और साम्यवाद के विरोधी खेमों में बटा रहा, बल्कि दोनों महाशक्तियों से सम्बद्ध गुटों का हिस्सा भी बन गया। अतः शीतयुद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन भी अति आवश्यक बन जाता है। अतः यह अध्याय व्यापक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक महत्वपूर्ण चरण का स्पष्ट व वस्तुनिष्ठ विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

7.4 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीतयुद्ध से क्या अभिप्राय है। इसके विभिन्न कारणों का वर्णन कीजिए।
2. शीतयुद्ध के विकास के विभिन्न चरणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. तनाव शैथिल्य से आपका क्या अभिप्राय है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसके प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. शीतयुद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों का आंकलन कीजिए।
5. शीतयुद्ध आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है। अपने विचार के समर्थन में तर्क दीजिए।

7.5 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्यौरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—8

शीतयुद्ध का अन्त

अध्याय का ढांचा

8.1 प्रस्तावना

8.1.1 अध्याय का उद्देश्य

8.2 शीतयुद्ध के अन्त के प्रयास

8.3 समाप्ति के कारण

8.3.1 सोवियत संघ का विघटन

8.3.2 सोवियत संघ का आर्थिक दिवालियापन

8.3.3 विचारधारा का अन्त

8.3.4 मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था

8.3.5 गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियां

8.4 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव

8.5 वर्तमान स्थिति

8.6 सारांश

8.7 प्रश्नावली

8.8 पाठ्य सामग्री

8.1 प्रस्तावना

सन् 1991 में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव आया जो कई रूप में पूर्व में दो विश्व युद्धों के अन्त के बाद आये बदलावों की तरह व्यापक था। इसने न केवल शीतयुद्ध का अन्त कर दिया बल्कि शक्ति के समीकरणों को ध्वस्त कर गैर-ध्रुवीकृत विश्व व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था में शक्तियों के ध्रुवीकरण की स्थिति स्पष्ट रही है तथा सैद्धान्तिक रूप से एक ध्रुवीय या बहु ध्रुवीय विश्व व्यवस्था की स्थिति भी स्पष्ट नहीं है। यद्यपि आर्थिक रूप से विश्व एक ध्रुवीय पूंजीवादी व्यवस्था की ओर झुकाव रखता है परन्तु वर्तमान महामारी (कोरोना-19) ने इस स्थिति पर भी शंका प्रस्तुत कर दी है। आज के विश्व को अब पूर्ण वैश्वीकृत ढांचे के रूप में भी देखना शायद उचित नहीं है। अतः आज राजनैतिक एवं आर्थिक अस्थिरता के विश्व की स्थिति है। इन सब मुद्दों को समझने हेतु शीतयुद्ध के अन्त के प्रयासों, इसकी समाप्ति के कारणों, इससे विश्व पर पड़ने वाले प्रभावों आदि की जानकारी अति आवश्यक है। इस अध्याय द्वारा इन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

8.1.1 अध्याय का उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से विश्व राजनीति में 1981 के बाद आये बदलावों का अध्ययन करना है। सर्वप्रथम शीतयुद्ध के अन्त की स्थिति हेतु किए गए प्रयासों का वर्णन है। तत्पश्चात शीतयुद्ध के अन्त के प्रमुख कारणों की जानकारी दी गई है। शीतयुद्ध के अन्त से पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन अगले भाग में किया गया। अन्ततः शीतयुद्ध के अन्त की समसामयिक स्थिति का वर्णन किया गया है। इस अध्याय का उद्देश्य शीतयुद्ध के अन्त के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विस्तृत वर्णन करना है।

8.2 शीत युद्ध के अन्त के प्रयास

1985 से अमेरिका, सोवियत संघ तथा कुछ अन्य राष्ट्रों ने शीत युद्ध को समाप्त करने की दिशा में ठोस कदम उठाने शुरू कर दिये और उन्होंने आपसी विश्वास की भावना कायम करके अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नए युग की शुरुआत की। अब विश्व में आतंक का संतुलन समाप्त होने लगा और धीरे धीरे स्थायी शान्ति की नींव पड़ने लगी। अमेरिका और सोवियत संघ ने पुरानी शत्रुता भुलाकर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहयोग की नीति अपना ली। शीतयुद्ध का स्थान शान्ति, समृद्धि तथा विकास के प्रयासों ने ले लिया। 1985 से शुरू होने वाले शान्ति प्रयासों को अन्त में 1991 में सफलता मिल गई और शीत युद्ध की समाप्ति हो गई। दोनों महाशक्तियों द्वारा शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा में किए जाने वाले प्रयास निम्नलिखित हैं।

1. दोनों महाशक्तियों में नवम्बर, 1985 में जेनेवा में एक बैठक हुई जिसमें परमाणु अप्रसार पर जोर दिया गया तथा दोनों देशों में सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा आर्थिक सम्बन्धों को बढ़ावा देने पर विचार किया गया। शीतयुद्ध को कम करने का यह सर्वप्रथम प्रयास था जो स्थायी शान्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ।
2. 11 अक्टूबर, 1986 में राष्ट्रपति रीगन तथा मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच आइसलैंड में वार्ता हुई। इसमें सामरिक हथियारों में 50 प्रतिशत तक कटौती करने, यूरोप तथा एशिया में मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों की संख्या कम करने तथा स्टारवार्ज कार्यक्रम (अन्तरिक्ष कार्यक्रम) दस वर्ष तक रोकने पर विचार हुआ। लेकिन राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने स्टारवार्ज कार्यक्रम स्थगित करने पर असहमति जताई जिससे शान्ति के इस प्रयास को धक्का लगा।
3. 9 दिसम्बर, 1987 को अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन तथा सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच आई.एन.एफ. सन्धि हुई, जिसके अनुसार 1139 परमाणु हथियारों को नष्ट करने पर दोनों देश सहमत हो गए। यह दोनों देशों की तरफ से निःशस्त्रीकरण का प्रथम और महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इस सन्धि के अनुसार दोनों देश परस्पर निरीक्षण पर सहमत हो गए। इस सन्धि ने दोनों देशों में लम्बे समय से चले आ रहे तनाव के वातावरण में कुछ कमी की।
4. 1 जून 1988 को दोनों देशों के बीच भूमिगत परमाणु विस्फोटों, अंतर्महाद्वीपीय बैलिस्टिक मिसाइल कार्यक्रम की सूचना एक दूसरे को देने की बात पर सहमति हुई। इसमें पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी सहमति दी गई।
5. 8 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठक में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने पूर्वी यूरोप के देशों से अपने 5 लाख सैनिक वापिस बुलाने की घोषणा की। इससे सोवियत संघ की विदेश नीति में अमेरिका के प्रति आए बदलाव के स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे। इससे विश्व शान्ति का आधार मजबूत हुआ।
6. 2 दिसम्बर, 1989 को अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश तथा सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाच्योव के मध्य भूमध्यसागर में एक वार्ता हुई। इसमें अमेरिका राष्ट्रपति ने सोवियत राष्ट्रपति को अमेरिका आने का निमंत्रण

दिया। इसमें आपसी बातचीत के कार्यक्रम को जारी रखने पर सहमति हुई।

7. 9 नवम्बर, 1989 को बर्लिन दीवार को तोड़ दिया गया और दोनों देशों ने इस पर अपनी सहमति जता दी।
8. 1 जुलाई, 1990 को जर्मनी का एकीकरण हो गया और दोनों देशों ने इस अपनी सहमति की मुहर लगा दी। इससे लम्बे समय से दोनों देशों में चला आ रहा पारस्परिक तनाव भी खत्म हो गया।
9. 8 सितम्बर, 1990 को राष्ट्रपति बुश व गोर्बाच्योव के बीच हेलसिंकी में आपसी वार्ता हुई। दोनों ने ईराक द्वारा कुवैत पर आक्रमण की निन्दा की और संयुक्त राष्ट्र संघ को मजबूत बनाने पर सहमति जताई।
10. 9 नवम्बर 1990 को जर्मनी तथा सोवियत संघ ने परस्पर तनाव का कम करने के लिए एक अनाक्रमण समझौता किया, इससे यूरोप में नई शान्ति की शुरुआत हुई।
11. सोवियत संघ ने 1 जुलाई, 1991 को अपने सैनिक गठबन्धन 'वारसा पैक्ट' की समाप्ति की घोषणा कर दी।
12. 31 जुलाई, 1991 में दोनों देशों में मास्को में एक बैठक हुई जिसमें सर्वाधिक खतरनाक व विनाशकारी हथियारों में कटौती के लिए स्टार्ट सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए।
13. अक्टूबर, 1991 में नाटो सदस्य देशों ने अपने परमाणु हथियारों में 80 प्रतिशत कटौती करने की घोषणा की।
14. 12 सितम्बर, 1991 को मास्को में दोनों महाशक्तियों ने अफगानिस्तान में शान्ति बहाल करने की बात पर एक समझौता किया।

8.3 समाप्ति के कारण

विश्व में लगभग तीन दशक तक आतंक का संतुलन काम रखने वाली शीत युद्ध की अवधारणा आखिरकार 1991 को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से लुप्त हो गई। इसकी समाप्ति के निम्नलिखित कारण हैं –

8.3.1 सोवियत संघ का विघटन

प्रथम विश्व युद्ध के समय 1917 की साम्यवादी क्रांति के बाद एक शक्तिशाली देश के रूप में उभरने वाले तथा 1945 से 1991 तक विश्व सम्बन्धों में एक महाशक्ति के रूप में जाने वाले देश सोवियत संघ का 1991 में विघटन हो गया। उसके तीन बाल्टिक राज्य – एस्तोनिया, लैटविया तथा लिथुआनिया तो पहले ही स्वतन्त्र हो चुके थे। शेष राज्य भी एक एक करके स्वतन्त्रता के प्रयास करने लगे। आन्तरिक आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं के कारण इनको एक सूत्र में बांधकर रखना सम्भव नहीं था। इन्होंने मिखाइल गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियों का पूरा लाभ उठाया और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, अपने समय में महाशक्ति के रूप में पहचान रखने वाला देश सोवियत संघ अपने राजनीतिक बिखराव को नहीं रोक सका, उसका साम्यवादी दल भी समाप्त हो गया। गोर्बाच्योव की आर्थिक नीतियां, साम्यवाद की हठधर्मिता, बाल्टिक राज्यों की भूमिका, मुक्त बाजार व्यवस्था, लोकतन्त्र का आकर्षण आदि तत्वों ने सोवियत संघ के विघटन में योगदान दिया और इससे शीत युद्ध स्वतः ही समाप्त हो गया।

8.3.2 सोवियत संघ का आर्थिक दिवालियापन

1945 के बाद सोवियत संघ लगातार अपना अधिकतर पैसा शस्त्र निर्माण व अन्तरिक्ष अनुसंधान पर खर्च करता चला आ रहा था। उसने अपने देश में ऐसे कारखानों या उत्पादन ईकाइयों की स्थापना व विकास पर ध्यान नहीं दिया जिससे उसके व्यापार में वृद्धि हो, लोगों को रोजगार मिले और उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत हो। उसकी पश्चिमी शक्तियों के साथ सामरिक प्रतिस्पर्धा ने उसको दिवालिया बना दिया। उसकी राष्ट्रीय आय लगातार घटती रही। उसका निर्यात लगातार कम होते होते शून्य स्तर पर पहुंच गया। उसका कृषि उत्पादन भी चौपट हो गया। लगातार श्रमिक हड़ताल करने लगे। खाड़ी युद्ध ने उसके शस्त्र निर्यात को गहरा आघात पहुंचाया। उसके लगातार गिरते

उत्पादन ने लोगों में गरीबी व भ्रष्टाचार को जन्म दिया। लोगों की क्रय शक्ति कम हो गई। उसने पश्चिमी देशों से आर्थिक सहायता की मांग की। पश्चिमी देशों ने उस पर कठोर शर्तें लगा दी और प्राप्त सहायता से वह अपनी सैनिक प्रतिस्पर्धा जारी नहीं रख सकता था। इसी कारण से वह अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता के लिए उठने वाले आन्दोलनों को भी नहीं रोक सका। सभी राज्यों ने एक-एक करके स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अन्त में इस साम्यवादी देश का विघटन हो गया। इस तरह उसका आर्थिक दिवालियापन या आर्थिक मजबूरियां ही उसके अन्त का कारण बनी और इसी से शीत युद्ध का भी अन्त हो गया।

8.3.3 लोकतन्त्रीय विचारधारा का आरम्भ

साम्यवाद की हठधर्मिता ने जनता को लोकतन्त्रीय विचारधारा की ओर जाने पर विवश कर दिया। जनता साम्यवादी अत्याचारों से मुक्ति पाने को तैयार थी। जनता को 1991 में एक ऐसा अवसर मिल गया। पूर्वी यूरोप के देश स्वतन्त्र निर्वाचन वाली बहुदलीय लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था को अपनाने लगे। सोवियत संघ के सभी नवोदित स्वतन्त्र राज्यों ने मिखाईल गोर्बाच्योव के उदारवादी स्वभाव का फायदा उठाकर साम्यवाद को नष्ट कर दिया। सोवियत संघ में भी 1990 में साम्यवादी पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और जन भावनाओं को व्यापक महत्त्व दिया गया, लोगों के मन में पश्चिमी देशों के प्रति सहयोग व प्रेम की भावना का जन्म हुआ। साम्यवादी देश के रूप में पश्चिमी देशों के प्रति अविश्वास की भावना की पूरी तरह समाप्ति हो गई।

8.3.4 मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था

1990 में पूर्वी यूरोप के अधिकतर देशों ने लोकतन्त्रीय राजनीति व्यवस्था के साथ-साथ मुक्त बाजार व्यवस्था को भी स्वीकार कर लिया। आर्थिक विकास का कम्युनिस्ट मॉडल अप्रासांगिक प्रतीत होने लगा था। केन्द्रीयकृत अर्थव्यवस्था ने जनता की क्रय शक्ति में कमी कर दी थी। गोर्बाच्योव के उदारवादी कार्यक्रम में मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था को प्रमुख स्थान दिया। गोर्बाच्योव ने स्वयं अपनी इस नीति की घोषणा की। लोगों की लम्बे समय से चली आ रही मांग अब पूरी हुई। इससे सोवियत संघ और पश्चिमी देशों में व्यापार में वृद्धि होने लगी और जी-7 देशों से भी उसे आर्थिक सहायता प्राप्त होने की सम्भावना में वृद्धि हुई। अमेरिका तथा जर्मनी ने सोवियत संघ को आर्थिक मदद देकर जनता के मन में अपनी प्रति चली आ रही वैमनस्य की भावना को समाप्त कर दिया। जनता ने अपनी साम्यवादी नेताओं और उनके आर्थिक कार्यक्रमों की आलोचना शुरू कर दी। इससे उनकी मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था का स्वप्न पूरा हुआ और अन्त में रूप से शीत युद्ध का भी अन्त हो गया।

8.3.5 गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियां

1985 में सत्ता सम्भालते ही मिखाईल गोर्बाच्योव ने अमेरिका के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व व सहयोग की नीति अपनाई, उसने शीत युद्ध को समाप्त करने के लिए अमेरिका के साथ कम और मध्यम दूरी तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने वाली सन्धि (I.N.F.) पर हस्ताक्षर किए। उसने ग्लास्नोस्त (खुलेपन) तथा 'पेरेस्ट्रोइका' (पुनर्निर्माण) की नीति लागू की। इससे राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय जगत में नई व्यवस्था की शुरुआत हुई। उसकी इस नीति ने सोवियत संघ में अलगावाद की प्रवृत्ति को जन्म दिया। उसने पूर्वी यूरोप के देशों की स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र का भी समर्थन करके अपने उदारवादी कार्यक्रम को स्पष्ट किया। उसने वार्सा पैक्ट भंग करने की घोषणा करके साम्यवादी कार्यक्रम को गहरा आघात पहुंचाया। भ्रष्टाचार व आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार जनता ने उनकी उदारवादी नीतियों का पूरा फायदा उठाया और स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन करने शुरू कर दिए। इससे सोवियत संघ का विघटन हुआ और इस विघटन ने शीत युद्ध का भी अन्त कर दिया।

इस प्रकार सोवियत संघ के अवसान गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियां, सोवियत संघ का आर्थिक दिवालियापन, लोगों का लोकतंत्र के प्रति बढ़ता रुझान आदि ने शीत युद्ध को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वारसा पैक्ट समाप्त कर दिया गया और अमेरिका के साथ सहयोग व शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की भावना

में वृद्धि होने लगी। लम्बे समय से चला आ रहा तनाव समाप्त हो गया और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई।

8.4 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर प्रभाव

1945 के बाद से अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य चला आ रहा शीत युद्ध सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा सोवियत संघ की समाप्ति का प्रस्ताव पारित होने के साथ ही समाप्त हो गया। इसके विश्व सम्बन्धों पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े –

1. इससे विश्वशान्ति का आधार मजबूत हुआ और दोनों देशों में लम्बे समय से चलते आ रहे तनाव का अन्त हो गया।
2. इससे विश्व में आतंक के संतुलन के स्थान पर हितों का संतुलन स्थापित हुआ। इसने तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना को समाप्त कर दिया।
3. विश्व में अब सुरक्षा और विचारधारा के स्थान पर व्यापार और पूंजी निवेश के मुद्दों का विकास होने लगा।
4. सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग की भावना में वृद्धि हुई। अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सोवियत संघ को (G-7) के देशों व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों से आर्थिक सहायता मिलने लगी।
5. सोवियत संघ को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की सदस्यता प्रदान की गई।
6. इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में वृद्धि हुई।
7. सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी देशों में लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का विकास हुआ।
8. इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में वृद्धि हुई।
9. विश्व में अमेरिका एक प्रमुख शक्ति बन गया।

शीत युद्ध के अन्त ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नए ढंग से निर्धारित करने के लिए विवश कर दिया। इससे अंतर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिकन दादागिरी को बढ़ावा मिला। उसका प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी सोवियत संघ अब इस स्थिति में नहीं रहा कि वह अपनी शत्रुता जारी रख सके। लेकिन उसकी दादागिरी अधिक लम्बे समय तक नहीं चल सकती। आज अनेक देश आर्थिक व सैनिक शक्ति के रूप में उभर रहे हैं।

8.5 वर्तमान स्थिति

1991 ई. में जिस शीत-युद्ध का अन्त हुआ है, वह धीरे-धीरे नए रूप में फिर से जन्म लेने लगा। आज जब भारत, जापान, जर्मनी जैसे देश भी आर्थिक महाशक्तियां बन चुके हैं, ऐसे में पांच वीटो शक्ति प्राप्त देशों को ही महाशक्तियां मानना न्याय संगत नहीं है। आज रूस फिर से एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर चुका है। उसके चीन के साथ कुछ बातों पर मतभेद हैं, इसी तरह के मतभेद भारत और चीन में भी हैं। आज कश्मीर समस्या पर अमेरिका और रूस के विचार अलग-अलग हैं। इसी तरह ब्रिटेन और अमेरिका के भी परस्पर कुछ बातों पर मतभेद हैं। अतः यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि विश्व से शीतयुद्ध पूर्ण रूप से समाप्त हो चुका है। आज भी विश्व की अनेक आर्थिक व राजनीतिक शक्तियों के परस्पर किसी न किसी बात को लेकर तनाव व्याप्त है। इसलिए जब तक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रहेंगे तब तक शीत युद्ध का भी किसी न किसी रूप में अस्तित्व रहेगा।

8.6 सारांश

इस अध्याय में सर्वप्रथम 1985 से 1991 तक के उन घटनाक्रम का वर्णन प्रस्तुत किया गया है जिसके कारण

शीतयुद्ध अन्त की ओर अग्रसर हुआ। इसके बाद शीतयुद्ध अन्त के प्रमुख कारणों का विस्तृत विश्लेषण दिया गया है। ताकि उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को समझा जा सके। अन्त में शीतयुद्ध की समाप्ति से विश्व राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन एवं मूल्यांकन दिया गया है। उपरोक्त स्थिति के आधार पर समसामयिक स्थिति पर टिप्पणी प्रस्तुत की गई है।

8.7 प्रश्नावली

1. शीतयुद्ध के अन्त से आपका क्या अभिप्राय है। इस सन्दर्भ में 1985–91 के घटनाक्रमों का विस्तार से वर्णन करें।
2. शीतयुद्ध की समाप्ति के कारणों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. शीतयुद्ध की समाप्ति से विश्व में आए बदलावों की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
4. शीतयुद्ध के अन्त से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन कीजिए।

8.8 पाठन सामग्री –

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय—9

गुटनिरपेक्षता

अध्याय का ढांचा

9.1 प्रस्तावना

9.1.1 अध्याय का उद्देश्य

9.2 गुटनिरपेक्षता का अर्थ

9.3 गुटनिरपेक्षता की विशेषताएं

9.4 गुटनिरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्व

9.4.1 साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का भय

9.4.2 शीत युद्ध का वातावरण

9.4.3 स्वतन्त्र विदेश नीति की इच्छा

9.4.4 गठबन्धन राजनीति का विरोध

9.4.5 राष्ट्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय हित की भावना

9.4.6 आर्थिक विकास की आवश्यकता

9.4.7 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय भूमिका अदा करने की भावना

9.4.8 युद्ध का भय और विश्व शान्ति का विचार

9.5 गुटनिरपेक्षता का ऐतिहासिक विकास

9.6 गुटनिरपेक्षता के पक्ष में तर्क

9.7 मूल्यांकन

9.7.1 उपलब्धियाँ

9.7.2 विफलताएं

9.8 गुटनिरपेक्षता का भविष्य

9.9 गुटनिरपेक्षता एवं भारत

9.10 सारांश

9.11 प्रश्नावली

9.12 पाठन सामग्री

9.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सम्पूर्ण विश्व का दो गुटों—पूँजीवादी गुट तथा साम्यवादी गुट में बंट जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत-युद्ध की अवधारणा को जन्म दिया। अमेरिका तथा सोवियत संघ अपने-अपने धड़ों को मजबूत बनाने के प्रयास करने लगे जिससे तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावना प्रबल हो गई। तीसरी दूनिया के सामने अपने अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो गया। अब उनके सामने बड़ी चुनौती यह थी कि वे किस गुट में शामिल हों या न हों, नवोदित स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र फिर से पराधीनता की जंजीर में जकड़े जाने से भयभीत थे। इसलिए उन्होंने इन गुटों से दूर रहकर की अपनी स्वतन्त्रता को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। उन्होंने गुटों से दूर रहकर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया, जिससे गुटनिरपेक्षता की नीति का जन्म हुआ।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू, मिश्र के कर्नर नासिर तथा युगोस्लाविया के नेता मार्शल टीटो ने 1961 में गुटनिरपेक्षता की नीति को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। उन्होंने नवोदित अफ्रीकी तथा एशियाई देशों के सामने कुछ सिद्धान्त रखे जो गुटनिरपेक्षता देश को परिभाषित करने में पूर्ण समर्थ थे। उनके सिद्धान्तों को एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों द्वारा सहर्ष स्वीकार करके गुटनिरपेक्षता के प्रति उन्होंने अपनी निष्ठा तथा गुटनिरपेक्षता की बढ़ती लोकप्रियता को दर्शाया।

9.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को गुटनिरपेक्षता आन्दोलन से जुड़ी सभी जानकारी प्रदान करना है। गुटनिरपेक्षता से क्या अभिप्राय है तथा इसकी उत्पत्ति एवं विकास से जुड़े कौन-कौन से कारक हैं। गुटनिरपेक्षता की भूमिका इसके विभिन्न शिखर सम्मेलनों में हुए विचार विमर्श के माध्यम से प्रदान की गई है। वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता से जुड़े प्रश्न का भी पक्ष व विपक्ष में दिए तर्कों के आधार पर मूल्यांकन प्रस्तुत करना है। इस आन्दोलन में भारत की भूमिका के बारे में भी विद्यार्थियों का अवगत कराया गया है।

9.2 गुटनिरपेक्षता का अर्थ

‘गुटनिरपेक्षता’ शब्द को सर्वप्रथम लिस्का द्वारा वैज्ञानिक अर्थ प्रदान किया गया, बाद में अन्य विद्वानों ने इसे अलग-अलग रूप में परिभाषित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा व्यवस्थित रूप दिया गया जिसको कर्नल नासिर तथा मार्शल टीटो ने भी स्वीकार कर लिया। जवाहर लाल नेहरू ने गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करते हुए कहा है – “गुटनिरपेक्षता का अर्थ है अपने आप को सैनिक गुटों से दूर रखना तथा जहां तक सम्भव हो तथ्यों को सैनिक दृष्टि से न देखना। यदि ऐसी आवश्यकता पड़े तो स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखना तथा दूसरे देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना गुटनिरपेक्षता के लिए आवश्यक है।” इससे स्पष्ट होता है कि केवल आंख बंद करके विश्व घटनाक्रम को देखते रहना गुटनिरपेक्षता नहीं है। यह सही और गलत में अन्तर करते हुए सही का पक्ष लेने की भी नीति है। लेकिन गुटनिरपेक्ष देश वही हो सकता है जो गुटों से दूर रहकर ही अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाए।

गुटनिरपेक्षता का सरल अर्थ है कि विभिन्न शक्ति गुटों से तटस्थ या दूर रहते हुए अपनी स्वतन्त्र निर्णय नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार सही या न्याय का साथ देना। आंख बंद करके गुटों से अलग रहना गुटनिरपेक्षता नहीं हो सकती। गुटनिरपेक्षता का अर्थ है – सही और गलत में अन्तर करके सदा सही नीति का समर्थन करना।

जार्ज लिस्का ने इसका सही अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि सबसे पहले यह बताना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है। इसका अर्थ है – उचित और अनुचित का भेद जानकर उचित का साथ देना।

गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह बताना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता क्या नहीं है?

(अ) गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है

तटस्थता शब्द का प्रयोग प्रायः युद्ध के समय किया जाता है। शान्तिकाल में भी यह एक प्रकार से युद्ध की मनोवृत्ति को प्रकट करती है। यह उदासीनता का दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यह एक प्रकार की नकारात्मक प्रवृत्ति है। जबकि गुटनिरपेक्षता का विचार सक्रिय एवं सकारात्मक है। इससे विश्व समस्याओं का बिना गुटों के भी समाधान किया जा सकता है। इस तरह गुटनिरपेक्षता एक सक्रिय विचार है। गुट निरपेक्षता युद्धों में शामिल होकर भी बरकरार रहती है। भारत ने चीन और पाकिस्तान के साथ युद्ध करने पड़े फिर वह गुटनिरपेक्ष देश है। तटस्थता युद्धों में भाग लेने पर समाप्त हो जाती है। स्वीटज़रलैंड एक तटस्थ देश है क्योंकि वह न तो किसी युद्ध में शामिल हुआ है और न ही उसे किसी सैनिक संगठन की सदस्यता प्राप्त है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थता की नीति नहीं है।

(आ) गुटनिरपेक्षता अलगाववाद या पृथकतावाद नहीं है

पृथकवाद का अर्थ होता है— प्रायः अपने को दूसरे देशों की समस्याओं से दूर रखना। अमेरिका ने प्रथम विश्व युद्ध से पहली इसी नीति का पालन किया। लेकिन गुटनिरपेक्षता अलगाववाद की नीति नहीं है। गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं में स्वयं रुचि लेने व सक्रिय भूमिका निभाने की नीति है। उदाहरण के लिए भारत ने शीत युद्ध में किसी गुट में शामिल न होकर भी इस समस्या के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया और दोनों गुटों में तनाव कम कराने के प्रयास भी किए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थतावाद तथा अलगाववाद की नीति नहीं है। यह एक ऐसी नीति है जो सैनिक गुटों से दूर रहते हुए भी उनके काफी निकट है।

(इ) गुट निरपेक्ष देश कौन हैं?

गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ जानने के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के तीन कर्णधारों — पंडित जवाहर लाल नेहरू, नासिर व टोटो के विचारों को जानना आवश्यक है। इन तीनों नेताओं ने 1961 में गुटनिरपेक्षता को सही रूप में परिभाषित करने वाले निम्नलिखित 5 सिद्धान्त विश्व के सामने रखे:

1. जो राष्ट्र किसी सैनिक गुट का सदस्य नहीं हो।
2. जिसकी अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति हो।
3. जो किसी महाशक्ति से द्विपक्षीय समझौता न करता हो।
4. जो अपने क्षेत्र में किसी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न देता हो।
5. जो उपनिवेशवाद का विरोधी हो।

इस सिद्धान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऐसा देश जो सैनिक गुटों से दूर रहकर स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करता हो और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक हो गुट—निरपेक्ष देश कहलाता है।

9.3 गुट निरपेक्षता की विशेषताएं

गुटनिरपेक्षता का जन्म विशेष तौर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ। भारत, मिन्त्र व युगोस्लाविया आदि देशों के सहयोग से इस अवधारणा का पूर्ण विकास हुआ। आज गुटनिरपेक्षता की अवधारणा एक पूर्णतया विकसित स्वयं विस्तृत रूप धारण कर चुकी है। इसको समुचित रूप में समझने के लिए इसकी विशेषताओं को जानना जरूरी है। गुटनिरपेक्षता की महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. यह सभी प्रकार के सैनिक, राजनीतिक, सुरक्षा—सन्धियों तथा गठबन्धनों का विरोध करने की नीति है।

गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध के दौरान उत्पन्न नाटो, सीटो एवं वार्सा समझौतों का विरोध करती है। गुटनिरपेक्षता की नीति का मानना है कि सैनिक गठबन्धन साम्राज्यवाद, युद्ध तथा नव-उपनिवेशवाद को बढ़ावा देते हैं। ये शीत युद्ध या अन्य तनावों को जन्म देते हैं। इन्हीं से विश्व शान्ति भंग होती है। अतः इनसे दूर रहना तथा विरोध करना आवश्यक है।

2. गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध का विरोध करती है। भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश शीत-युद्ध को अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने वाला तत्व मानते हैं। इसलिए गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध से दूर रहने की नीति का पालन करती है। और शीत युद्ध के सभी तनावों को दूर करने का प्रयास करती है।
3. गुटनिरपेक्षता स्वतन्त्र नीति का पालन करने में विश्वास करती है। उसका मानना है कि गुटबन्धियां राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक हैं। इसीलिए भारत हमेशा से अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता को आधार मानता रहा है।
4. गुटनिरपेक्षता अलगाववाद या तटस्थता की नीति नहीं है। यह अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक रहने तथा उन समस्याओं के समाधान के लिए सहयोग देने की नीति है।
5. गुटनिरपेक्षता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा आपसी सहयोग की नीति है। यह शक्ति के किसी भी रूप का खण्डन करती है। यह राष्ट्रों के बीच तनावों एवं संघर्षों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने में विश्वास करती है।
6. यह राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने का कूटनीतिक साधन नहीं है। यह युद्ध का लाभ उठाने के किसी भी अवसर का विरोध करती है। यह एक सकारात्मक गतिशील नीति है। यह विदेशों के साथ मधुर सम्बन्धों की स्थापना करके राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति करने पर बल देती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना को विकसित करने, अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का विरोध करने व उनके समाधान का प्रयास करके विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना के प्रयास की नीति है। गुटनिरपेक्षता किसी समस्या के प्रति आंख बंद करके बैठ जाने या अलग रहकर जीने की नीति नहीं है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक रहने की नीति है। यह एक गतिशील धारणा है जो भारतीय विदेश नीति व अन्य तृतीय विश्व के राष्ट्रों की स्वतन्त्र विदेश नीति का आधार है यह किसी राष्ट्र की सम्प्रभुता को सुदृढ़ करने की नीति है।

9.4 गुटनिरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले तत्व

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गुटनिरपेक्षता की अवधारणा धीरे-धीरे विकसित होने लगी और गुटनिरपेक्ष आंदोलन का भी तेजी से विकास होने लगा। 1961 में संस्थापक देशों सहित इसकी संख्या 25 थी, लेकिन आज यह संख्या 115 है। धीरे-धीरे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक महत्वपूर्ण आन्दोलन बन गया। विश्व में नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र एक-एक करके इसकी सदस्यता प्राप्त करते गए। उन देशों द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के पीछे निम्नलिखित कारण हैं :

9.4.1 साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का भय

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व में गुटों का नेतृत्व करने वाले देश अमेरिका और सोवियत संघ तथा उनके मित्र राष्ट्र साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रमुख प्रेरणा रहे थे। तृतीय विश्व के देश साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के कष्टों को अच्छी तरह भोग चुके थे। यदि उन्होंने इन गुटों की सदस्यता स्वीकार की हो तो उन्हें पता था कि वे फिर से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के नए रूप में जकड़ लिए जायेंगे। उन्हें शीत युद्ध में घसीटकर पुरानी प्रक्रिया का अंग बना लिया जाएगा। इससे उनकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। इसीलिए नवोदित स्वतन्त्र अफ्रीका व एशिया के देशों ने किसी भी गुट में शामिल न होने का निर्णय लिया और गुटनिरपेक्षता की नीति में ही

अपना विश्वास व्यक्त करके विश्व शान्ति का आधार सुदृढ़ किया। इसी नीति के आधार पर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को बचाकर आत्म रक्षा का उपकरण बना लिया।

9.4.2 शीत युद्ध का वातावरण

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ के बीच व्याप्त तनाव ने तृतीय विश्व के देशों ने विश्व शान्ति को बनाए रखने के लिए सोचने पर विवश कर दिया। शीत युद्ध की स्थिति में प्रत्येक महाशक्ति अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयास करने लगी। इस दौरान अमेरिका द्वारा परमाणु शक्ति हासिल कर लेने के बाद उसकी सर्वोच्चता स्थापित करने की भावना प्रबल हो गई। इससे सोवियत खेमे का चिंतित होना स्वाभाविक ही था। उसने साम्यवादी गुट को मजबूत बनाने के अथक प्रयास शुरू कर दिए। धीरे-धीरे दोनों महाशक्तियों में यह तनाव इतना अधिक बढ़ गया कि तृतीय विश्वयुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया। नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने इस वातावरण को अपने लिए सबसे खतरनाक समझा। उन्होंने जागरूक राष्ट्रों के रूप में अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए एक तीसरी शक्ति को मजबूत बनाने का विचार किए जो इस तनाव को कम कर सकें। इसलिए इन तृतीय विश्व के देशों ने पृथक रहकर विश्व शान्ति को बनाए रखने के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति का ही विकास किया। अतः शीत युद्ध के वातावरण ने इस नीति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

9.4.3 स्वतन्त्र विदेश नीति की इच्छा

स्वतन्त्र नवोदित राष्ट्रों के सामने अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वतन्त्र विदेश नीति को आवश्यकता महसूस हुई। उनका मानना था कि यदि वे किसी गुट में शामिल होंगे तो इससे उनकी स्वतन्त्रता सीमित हो जाएगी और वे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकेंगे। गुटबन्दी को स्वीकार करने का अर्थ होगा—स्वतन्त्रता का त्याग। इसलिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने गुटनिरपेक्षता की नीति को ही आधार बनाकर अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति के संचालन की इच्छा को पूरा किया।

9.4.4 गठबन्धन राजनीति का विरोध

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व का पूंजीवादी और साम्यवादी दो गुटों में बंटवारा हो गया। दोनों गुट शीत युद्ध के वातावरण में अपनी-अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए सैनिक गठबन्धनों का निर्माण करने लगे। इस प्रक्रिया में नाटो, सीटो तथा वार्सा पैक्ट आदि सैनिक संगठनों का जन्म हुआ। अमेरिका ने नाटो तथा सीटो तथा सोवियत संघ ने वार्सा पैक्ट की स्थापना करके विश्व में तनावपूर्ण वातावरण में और अधिक बढ़ोतरी कर दी। इससे नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र ज्यादा भयभीत हो गए। वे इनसे दूर रहना चाहते थे ताकि उनके राष्ट्रीय हितों को कोई नुकसान न पहुंचे। उन्होंने इन संधियों या गठबंधनों को अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व राज्यों की स्वतन्त्रता के लिए भयंकर खतरा मानकर इनका विरोध किया। वे किसी गठबंधन में शामिल होकर विरोधी गुट से दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहते थे। यदि वे गठबन्धन की राजनीति के चक्रव्यूह में फंस जाते तो उन्हें अपने राष्ट्रों की समस्याओं का समाधान करने के अवसर गंवाने पड़ते। इसलिए उन्होंने गठबन्धन राजनीति से दूर रहने का ही निर्णय किया। इससे गुटनिरपेक्षता का आधार मजबूत हुआ।

6.4.5 राष्ट्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय हित की भावना

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रवादी भावना प्रबल होने लगी। उन देशों के मन में राष्ट्रीय हितों में वृद्धि करने का विचार भी पैदा होने लगा। इसके लिए वे देश स्वतन्त्र विदेश नीति की स्थापना के प्रयास करने लग गए। स्वतन्त्रता के बाद ये राष्ट्र अपना ध्यान अपने आर्थिक विकास की ओर केन्द्रित करने लगे। इसके लिए उन्हें नए साधनों की आवश्यकता थी। उन्हें भय था कि यदि वे किसी गुट में शामिल हुए तो इससे उनकी राष्ट्रवाद की भावना को आघात पहुंचेगा और वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतन्त्र भूमिका अदा नहीं कर पाएंगे। इसलिए अपनी सुरक्षा और

आन्तरिक पुनर्निर्माण की समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने गुटनिरपेक्षता की नीति पर ही चलने का निर्णय लिया। अतः कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने गुटनिरपेक्षता की नीति को ही प्रोत्साहन दिया।

6.4.6 आर्थिक विकास की आवश्यकता

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के सामने आर्थिक विकास की समस्या सबसे प्रमुख थी। यद्यपि उनके पास प्राकृतिक साधन तथा मानव शक्ति तो थी लेकिन उनको प्रयोग करने के लिए उचित तकनीकी ज्ञान का अभाव था। यदि वे किसी एक गुट में शामिल हो जाते तो इससे दूसरे देशों से आर्थिक सहायता का मार्ग रूक जाता। इसलिए उन्होंने तकनीकी कौशल प्राप्त करने के लिए गुटों से दूर रहने का ही निर्णय किया। दूसरी बात यह थी कि आर्थिक विकास शान्तिपूर्ण वातावरण में ही सम्भव हो सकता था। यदि वे शीत-युद्ध का अंग बन जाते तो उनकी आर्थिक विकास का वातावरण नहीं मिल सकता था। इसलिए उन्होंने देश में शान्तिपूर्ण वातावरण व सुरक्षा के लिए गुट-राजनीति से दूर रहने का ही निर्णय किया। इससे गुटनिरपेक्षता का आधार सुदृढ़ हुआ।

6.4.7 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय भूमिका अदा करने की भावना

सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र चाहते थे कि बिना अपनी स्वतन्त्रता नष्ट किए और राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुंचाए बिना अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भूमिका अदा की जाए। उन्हें यह पता था कि यदि वे किसी गुट में शामिल हुए तो उनकी भूमिका सीमित हो जाएगी। उन्हें गुट के नियमों के अनुसार ही नाचना होगा। अपने वैचारिक स्वरूप को मजबूती प्रदान करने के लिए गुटों से दूर रहना ही उन्हें अपने हित में समझा ताकि वे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर विशेष भूमिका निभा सकें। उनकी इसी सोच में गुटनिरपेक्षता को सुदृढ़ बनाया। सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र एक-एक करके गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल होते गए।?

6.4.8 युद्ध का भय और विश्व शान्ति का विचार

शीत युद्ध के तनावों से भरे वातावरण ने तृतीय विश्व के देशों के मन में तीसरे युद्ध का भय पैदा कर दिया। बढ़ती सैनिक प्रतिस्पर्धा ने विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न कर दिया था। समस्त विश्व एक आतंक के संतुलन के वातावरण या सम्भावित मृत्यु के वातावरण में जी रहा था। नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों को तृतीय विश्व युद्ध का आभास होने लगा तथा उन्होंने शीत युद्ध के तनावों को कम करके विश्व शान्ति के विचार को मजबूत बनाने के उद्देश्य से तीसरी शक्ति के रूप में गुटनिरपेक्षता को बढ़ावा देने का विचार किया। उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप शीत युद्ध का तनाव कम हुआ और विश्व शान्ति को मजबूती मिली। इससे गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

9.5 गुटनिरपेक्षता का ऐतिहासिक विकास

आज विश्व के 115 देश जो विश्व का 2/3 हैं, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में बड़-चढ़कर भाग ले रहे हैं। जब द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ, उस समय से ही गुटनिरपेक्षता के प्रयास तेज होने लगे थे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 10 वर्ष बाद 1956 में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू, मिस्त्र के कर्नल नासिर तथा यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने मिलकर ब्रियोनी में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की नींव रख दी। जब इसका पहला औपचारिक सम्मेलन 1961 में बेलग्रेड में हुआ तो इसके सदस्य देशों की संख्या 25 थी जो आज विशाल स्तर पर पहुँच गई है। इसकी बढ़ती लोकप्रियता के कारण एशिया व अफ्रीका के सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र इसके सदस्य बनते गए और गुटनिरपेक्षता एक विचार से एक विशाल आन्दोलन में तबदील हो गई। इसके ऐतिहासिक विकास क्रम पर नजर डाली जाए तो यह बात प्रमुख रूप से उभरकर आती है कि सर्वप्रथम भारत, वर्मा, इंडोनेशिया, मिस्त्र, यूगोस्लाविया, घाना आदि देशों द्वारा इसे विदेश नीति के मूल सिद्धान्त के रूप में अपनाया गया। 1947 में नई दिल्ली में प्रथम एशियाई सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध करा दी गई। आगे चलकर 1955 में

एशियाई – अफ्रीकी सहयोग सम्मेलन (बाण्डुंग सम्मेलन) ने इसकी शुरुआत के लिए मजबूत आधार प्रदान किया। इस सम्मेलन में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व व सहयोग की भावना ने गुटनिरपेक्षता का महत्व अनुभव करा दिया। 1956 में नेहरू, नासिर तथा टीटो ने गुटनिरपेक्षता को अंतर्राष्ट्रीय आधार प्रदान कर दिया। गुटनिरपेक्ष देशों ने संगठित होकर 1961 में बैलग्रेड में एक शिखर सम्मेलन का आयोजन किया जो सैद्धान्तिक रूप से गुटनिरपेक्षता का प्रथम व्यवस्थित अंतर्राष्ट्रीय प्रयास था। उस समय से अब तक इसके 18 सम्मेलन हो चुके हैं।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन –

गुट निरपेक्ष आन्दोलन के अब तक 18 शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है –

1. **प्रथम शिखर सम्मेलन** – गुटनिरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन सितम्बर 1961 में बैलग्रेड (युगोस्लाविया) में हुआ। इसमें 25 देशों ने भाग लिया। इससे गुटनिरपेक्ष देशों को एक स्वतन्त्र मंच मिल गया। इस सम्मेलन में शीत युद्ध के तनाव को कम करने के लिए निःशस्त्रीकरण पर विचार किया गया। इसमें विश्व के सभी भागों में किसी भी रूप में विद्यमान उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद की निन्दा की गई इस सम्मेलन ने विश्व के 25 देशों ने एक मंच पर एकत्रित होकर महाशक्तियों को अपनी उभरती शक्ति का अहसास करा दिया।
2. **दूसरा शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 5 से 10 अक्टूबर 1964 तक मिस्त्र की राजधानी काहिरा में हुआ। इस सम्मेलन में 47 देशों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में “शान्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का कार्यक्रम” नामक शीर्षक से घोषणा पत्र प्रकाशित हुआ। इस सम्मेलन में झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीके से निपटाने की नीति पर बल दिया गया। इसमें परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि के विस्तार पर भी व्यापक चर्चा हुई। इसमें राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का समर्थन किया गया। इस समय तक भारत के प्रधानमंत्री नेहरू की मृत्यु हो चुकी थी इसलिए भारत का नेतृत्व लाल बहादुर शास्त्री ने किया। इस सम्मेलन में भारत की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं रही।
3. **तीसरा शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन सितम्बर 1970 में लुसाका (जाम्बिया) में हुआ। इसमें 60 देशों ने भाग लिया लेकिन गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्य संख्या केवल 54 थी। इस सम्मेलन के घोषणा पत्र का शीर्षक था – “गुटनिरपेक्षता तथा आर्थिक प्रगति।” इस सम्मेलन में भारत का नेतृत्व श्रीमति इंदिरा गांधी ने किया। इस सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों के आपसी सहयोग पर चर्चा हुई। इस सम्मेलन में दक्षिणी अफ्रीका तथा पुर्तगाल की उपनिवेशवाद विरोधी तथा नस्लवाद के प्रति असहयोग की भावना पर भी विचार किया गया।
4. **चौथा शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 5 सितम्बर, 1973 तक अल्जीयर्स (अल्जीरिया) में हुआ। इस समय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में 75 देश सदस्यता ग्रहण कर चुके थे। लेकिन इस सम्मेलन में केवल 47 सदस्यों ने ही भाग लिया। इस सम्मेलन में शीत युद्ध के तनाव में आई कमी पर विचार किया गया और झगड़ों को शान्ति प्रक्रिया द्वारा हल करने पर जोर दिया गया। इस सम्मेलन में इजराइल को सारे छीने गए अरब प्रदेश वापिस लौटाने को कहा गया। इस सम्मेलन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे में भी व्यापक चर्चा की गई।
5. **पांचवां शिखर सम्मेलन** – यह केवल 16 से 19 अगस्त, 1976 तक श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में हुआ। इस शिखर सम्मेलन तक गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या 88 तक पहुंच गई। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों ने एक समन्वय कार्यालय की स्थापना करने का निर्णय किया। इस सम्मेलन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना, सुरक्षा परिषद के निषेधाधिकार को समाप्त करने तथा तृतीय राष्ट्रों में परस्पर आर्थिक सहयोग में वृद्धि करने के उपायों पर भी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई। इसमें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उपलब्धियों पर

भी विस्तार से विचार हुआ।

6. **छठा शिखर सम्मेलन** – यह शिखर सम्मेलन 3 से 9 सितम्बर, 1979 तक हवाना (क्यूबा) में हुआ। इस दौरान गुटनिरपेक्ष देशों का आंकड़ा 94 पर पहुंच गया। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सामने अपने अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो गया। इस सम्मेलन में कुछ देशों ने अमेरिकी गुट से तथा कुछ ने सोवियत गुट से जुड़ने की बात कही ताकि अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त की जा सके। लेकिन भारत ने स्पष्ट तौर पर कहा कि गुटनिरपेक्षता तीसरी गुट नहीं है। अरब देशों ने मिस्त्र को इजराइल के साथ कैम्प डेविड समझौता करने के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से बाहर निकालने की धमकी दी लेकिन मिस्त्र की सदस्यता समाप्त नहीं की गई। इस सम्मेलन में हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित किया गया और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को भी दोहराया गया। इसमें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को सुदृढ़ करने के लिए टोस उपायों को अपनाने की बात भी की गई।
7. **सातवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 7 से 11 मई, 1983 तक भारत की राजधानी नई दिल्ली में हुआ। इस समय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्य संख्या 101 हो चुकी थी। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन व भारत का नेतृत्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किया। इसमें नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को फिर से दोहराया गया। इसमें विकसित देशों की आर्थिक नीतियों की जोरदार निन्दा की गई। इस सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इसमें हिन्द महासागर में सैनिक प्रतिस्पर्धा कम करने तथा डियागो गार्शिया मॉरिशियस को वापिस करने पर बात हुई। इसमें ईरान और ईराक से युद्ध बन्द करने की प्रार्थना भी की गई। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य देशों ने एकजुटता का परिचय देकर गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की बढ़ती लोकप्रियता को दर्शाया। एशिया व अफ्रीकी देशों की परस्पर एकता में वृद्धि करने की दृष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण सम्मेलन सिद्ध हुआ।
8. **आठवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 1 से 6 सितम्बर, 1986 तक जिम्बाब्वे की राजधानी हरारे में हुआ। इस सम्मेलन में कोई नया देश सदस्य नहीं बनाया गया, इसलिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्य संख्या 101 ही रही। इस सम्मेलन में जिम्बाब्वे के प्रधानमंत्री राबर्ट मुंगावे को आगामी तीन वर्ष के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष बनाया गया। इस सम्मेलन में अफ्रीका के नस्लवादी शासन के अत्याचारों पर व्यापक ध्यान दिया गया। इस शासन के शिकार राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए अफ्रीका कोष की स्थापना का फैसला किया गया। इसमें नामीबिया की स्वतन्त्रता के बारे में भी चर्चा हुई। इस सम्मेलन में घोषणा की गई कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नस्लवाद तथा नव उपनिवेशवाद के खिलाफ एक संघर्ष है। इस सम्मेलन में भारत का नेतृत्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने किया।
9. **नौवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन सितम्बर, 1989 में यूगोस्लाविया की राजधानी बैलगोड में हुआ। इस समय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्य संख्या 102 तक पहुंच गई थी। इसमें केवल 98 सदस्य की शामिल हुए। इस सम्मेलन में सारा ध्यान आर्थिक विषयों पर केन्द्रित किया गया। भारत का नेतृत्व इस सम्मेलन में प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने किया। इस सम्मेलन में पर्यावरण से संबंधित समस्याओं पर भी चर्चा हुई। इसमें अफ्रीका कोष को जारी रखने पर सहमति हुई। इससे निःशस्त्रीकरण के उपायों तथा विश्व अर्थव्यवस्था को और अधिक व्यापक आधार प्रदान करने की बात भी कही गई ताकि गैट (व्यापार एवं संरक्षण पर सामान्य समझौता) की समस्याओं का समाधान किया जा सके। इसमें अल्पविकसित देशों के ऋण माफ करने तथा गुटनिरपेक्ष तथा अन्य विकासशील देशों द्वारा 'देनदार मंच' स्थापित करने की भी बात हुई।
10. **दसवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 1 से 6 सितम्बर 1992 में इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में हुआ। इसमें 108 सदस्य देशों ने भाग लिया। इसमें विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाने पर चर्चा की

गई। इसमें भारत का नेतृत्व प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने किया। भारत द्वारा दिए गए राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों पर सुझावों को इस सम्मेलन में स्वीकार किया गया। इसमें सोमालिया के झगड़े पर भी विचार-विमर्श किया गया। इस सम्मेलन में विकसित राष्ट्रों के विकासशील राष्ट्रों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी भी दी गई। इसमें आतंकवाद को जड़ से उखाड़ने तथा उप-संरक्षणवाद का विरोध किया गया। इसमें तृतीय दुनिया के देशों के आर्थिक विकास के लिए नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक अर्थव्यवस्था का भी आह्वान किया गया।

11. **ग्यारहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन अक्टूबर, 1995 में कार्टेजीना (कोलम्बिया) में हुआ। इस समय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन देशों की सदस्य संख्या 113 पर पहुंच गई, लेकिन इसमें केवल 108 राष्ट्रों ने ही भाग लिया। इसमें परमाणु शस्त्र विहीन क्षेत्रों की स्थापना तथा अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विषयों पर चर्चा की गई। इसमें द्विपक्षीय विवादों को गुटनिरपेक्ष आंदोलन में न घसीटने की भारत की प्रमुख मांग को स्वीकार कर लिया गया।
12. **बारहवां शिखर सम्मेलन** – यह शिखर सम्मेलन सितम्बर, 1998 को दक्षिणी अफ्रीका के डरबन शहर में हुआ। इस समय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्य संख्या 114 हो चुकी थी। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने तथा परमाणु शस्त्रों को 2000 तक पूर्ण रूप से समाप्त करने के बारे में एक अंतर्राष्ट्रीय बैठक बुलाने की मांग उठाई गई। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त किया गया। इसमें नई न्याययुक्त अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की बात कही गई ताकि गरीब देशों को भी वैश्वीकरण की प्रक्रिया के लाभ प्राप्त हो सकें। इसमें मुद्रा कोष, विश्व बैंक, तथा विश्व व्यापार संगठन की भूमिकाओं की समीक्षा करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।
13. **तेरहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 20-25 फरवरी 2003 में मलेशिया के शहर कोलात्मपुर में सम्पन्न हुआ।
14. **चोदहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 15-16 सितम्बर 2006 में क्यूबा की राजधानी हवाना में हुआ।
15. **पन्द्रहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 11-16 जुलाई 2009 में मिश्र के शहर शर्म-अल-शेख में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का प्रमुख मुद्दा शान्ति और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एकता था।
16. **सोलहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 26-31 अगस्त 2012 में ईरान की राजधानी तेहरान में हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य मुद्दा संयुक्त विश्व प्रबन्धन द्वारा शान्ति स्थापित करना था।
17. **सतरहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 13-18 सितम्बर 2016 में वेजुएला देश के पोरलामार शहर में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का मूल मुद्दा विकास हेतु शान्ति, सम्प्रभुता एवं एकता था।
18. **अठारहवां शिखर सम्मेलन** – यह सम्मेलन 25-26 अक्टूबर 2019 में अजरबैजान देश के बाकू शहर में आयोजित हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य मुद्दा वर्तमान विश्व की चुनौतियों के उत्तर हेतु बाण्डूग सिद्धान्तों को पुनः स्थापित करना था।

9.6 गुटनिरपेक्षता के पक्ष में तर्क

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद गुटनिरपेक्षता की आवश्यकता को अप्रसांगिक कहा जाने लगा। अनेक विकसित राष्ट्रों ने इस पर आरोप लगाने शुरू कर दिए कि अब बदलते अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में इसका कोई औचित्य नहीं रह गया है। लेकिन उनका यह आरोप निराधार है। आज विश्व के अनेक देशों में शीत-युद्ध जैसा ही तनाव है। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्षता का महत्व स्वतः ही सिद्ध होता है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं –

1. गुटनिरपेक्षता शक्ति संतुलन के लिए आवश्यक है।
2. गुट-निरपेक्ष देशों की संख्या निरंतर बढ़ रही है।
3. यह संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों में ही विश्वास करती है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों को प्राप्त कराने में इसका सहयोग अनिवार्य है।
4. यह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास करती है। आज के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परमाणु युद्ध के भय के वातावरण में अधिक उपयोगिता है।
5. यह शस्त्रीकरण का विरोध करती है और निःशस्त्रीकरण में विश्वास करती है। इससे विश्व शान्ति का आधार सुदृढ़ होता है।
6. यह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के किसी भी रूप की विरोधी है। इससे राष्ट्रवाद की भावना का विकास होता है और प्रत्येक देश को स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्माण करने व संचालन करने में मदद मिलती है।
7. यह विश्व बंधुत्व की भावना पर आधारित है। इससे संकीर्ण राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय हितों के साथ मिला दिए जाते हैं। इससे विश्व संगठनों की भूमिका में वृद्धि होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी शीत युद्ध के दौरान थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के 2/3 राष्ट्र इसको स्वीकार कर चुके हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति के अनुसार संचालित करने पर जोर देती है। इससे विश्व में अनावश्यक तनाव कम होते हैं और विश्व शान्ति का विचार सुदृढ़ होता है जो सम्पूर्ण मानव जाति के हित में है।

9.7 मूल्यांकन

आज गुटनिरपेक्षता एक विश्वव्यापी आंदोलन का रूप ले चुकी है। इसका महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इसका अपना एक इतिहास है। इसने अपने यात्रा काल में कुछ खोया है और कुछ पाया है। इसकी उपलब्धियों की सर्वत्र प्रशंसा की जाती है, लेकिन इसकी कमियों पर विचार किया जाता है। इसलिए यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि इसका क्या उपलब्धियाँ रही हैं और क्या कमियाँ हैं? इसी से इसके भविष्य का निर्माण किया जा सकता है।

9.7.1 उपलब्धियाँ

विभिन्न गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों में अलग-अलग विषयों पर व्यापक चर्चा की गई और उनकी दिशा में सकारात्मक प्रयास भी किए गए। निर्गुट-शिखर सम्मेलनों के कुछ सकारात्मक परिणाम निकले जो निम्नलिखित हैं –

1. **अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि** – गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए। गुटनिरपेक्ष देशों ने आपसी झगड़ों को पारस्परिक सहमति से सुलझाने के प्रयास किए और महाशक्तियों को भी इसी आधार पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। इससे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बल मिला।
2. **शीत युद्ध को वास्तविक युद्ध में बदलने से रोकना** – गुट निरपेक्ष देशों ने निरन्तर शीत युद्ध के तनाव को कम करने के प्रयास किए। इससे विश्व में तीसरे युद्ध के होने की सम्भावनाएं क्षीण हुईं। गुट निरपेक्ष देशों ने गुटों की राजनीति से दूर रहकर किसी गुट को अधिक शक्तिशाली नहीं होने देने का भरसक प्रयास किया। इन देशों ने दोनों महाशक्तियों के चिन्तन में व्याप्त अविश्वास की भावना को दूर करने के पूरे प्रयास किए। इससे अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की सम्भावनाएं प्रबल हो गईं और शीत युद्ध में तबदील होने से बच गया।

3. **अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का टालना** – गुटनिरपेक्ष देशों ने अंतर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए सहयोग दिया। इन देशों ने या तो युद्ध को टाल दिया या उनका समाधान कराने में मदद की। इन्होंने हिन्द चीन संघर्ष, स्वेज नहर संकट, कोरिया संकट, आदि के दौरान न्यायोचित भूमिका निभाई। इससे गतिरोध कम हुआ और संघर्ष टल गए। स्वयं महाशक्तियों ने भी उनकी मध्यस्थ की सराहनीय भूमिका की प्रशंसा की। इन देशों ने अंतर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किए।
4. **निशस्त्रीकरण को बढ़ावा**— इन देशों ने अपनी सम्मेलनों में बार-बार परमाणु अप्रसार तथा शस्त्रों को नष्ट करने के प्रति अपनी वचनबद्धता को दोहराया। भारत के प्रधानमंत्री ने विश्व शान्ति को मजबूत बनाने के लिए पंचशील का सिद्धान्त दिया, उनको विश्व के अधिकतर देशों द्वारा सराहा गया। उसके द्वारा रखे गए आणविक शस्त्रों के परीक्षण सम्बन्धी सुझाव 1963 में आंशिक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के रूप में अपना लिए गए। इससे निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला।
5. **संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में वृद्धि** – गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन किया। इससे उनकी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति निष्ठा में वृद्धि हुई। सभी गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण करके उसके प्रयासों को सफल बनाया। गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर एकता का परिचय देकर विश्व शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की मदद की।
6. **नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग** – गुट निरपेक्ष देशों ने विकसित देशों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि वर्तमान विश्व व्यवस्था गरीब देशों के हितों की पोषक नहीं है। आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया का लाभ प्राप्त करने के लिए इसका नए सिरे से गठन करने की आवश्यकता है। अपने काहिरा सम्मेलन में 1962 में प्रथम बार आर्थिक समस्याओं पर विचार करके अप्रत्यक्ष रूप से विकसित देशों को इस अन्यायपूर्ण साधनों के बंटवारे के प्रति चेता दिया और 1974 में संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की घोषणा का प्रस्ताव पास कराया। उनकी इस मांग ने विकसित राष्ट्रों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था की नए सिरे से समीक्षा करनी आवश्यक है।
7. **दक्षिण-दक्षिण सहयोग में वृद्धि** – 1976 में कोलम्बो शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष देशों ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने का आह्वान किया। इसी के चलते दक्षिण-दक्षिण सहयोग की शुरुआत हुई जो आज विकासशील देशों के पारस्परिक आर्थिक सहयोग में वृद्धि के लिए आवश्यक बन गया है। अब गरीब राष्ट्रों के पास आर्थिक विकास के लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग की बात प्रमुख मुद्दा बन गई है। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धि कही जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुट-निरपेक्ष देशों ने शीतयुद्ध के तनावों को कम करके तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को क्षीण किया है। इसने अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों को टालने में पूरी मदद की है। इसने निःशस्त्रीकरण के प्रयास करके विश्वशान्ति को मजबूत बनाया है। इसने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग करके विकसित देशों को इस बारे में सोचने के लिए विवश किया है। लेकिन फिर भी आलोचक इसे अप्रसांगिक मानकर इसे महत्वहीन आंदोलन की संज्ञा देते हैं। उनकी आलोचना के कुछ ठोस आधार हैं।

9.7.2 विफलताएं

आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता की नीति अप्रसांगिक है। गुटनिरपेक्ष देशों में भी आपसी तनाव है। वे इस स्थिति में नहीं हैं कि महाशक्तियों के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकें। न ही गुटनिरपेक्ष देशों के पास अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को बढ़ावा देने का कोई बाध्यकारी साधन है। आज निरन्तर गुट सापेक्ष राष्ट्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्षता का काम करना कठिन हो जाता है। इसलिए गुटनिरपेक्षता के विरुद्ध निम्न तर्क

देते हैं –

1. आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता अव्यवहारिक नीति है। सिद्धान्त तौर पर तो गुटनिरपेक्ष राष्ट्र साम्यवादी तथा पूंजीवादी राष्ट्रों का विरोध करते हैं; लेकिन व्यावहारिक धरातल पर वे अपने को उनसे ज्यादा दूर नहीं पाते हैं। भारत द्वारा सोवियत संघ के प्रति झुकाव तथा उसके साथ किए गए समझौते इस बात का संकेत है कि यह नीति सिद्धान्त के अधिक पास तथा व्यवहार से अधिक दूर है। कई बात तो यह अपने मूलभूत सिद्धान्तों के ही विरुद्ध काम करने लगती है।
2. यह सुरक्षा की भी नीति नहीं है। इसके पास आक्रमणकारी देश को रोकने के लिए बाध्यकारी शक्ति का पूर्ण अभाव है। अब भारत पर 1962 में चीन ने आक्रमण किया तो इसकी सुरक्षा की पोल खुल गई। किसी भी देश ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत की सहायता नहीं की। इस प्रकार इसमें सुरक्षा की कोई गारन्टी नहीं है।
3. गुटनिरपेक्ष देशों के पास आर्थिक शक्ति का अभाव है। इन्हें आर्थिक मदद के लिए दूसरे विकसित देशों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में सहायता प्रदान करने वाले देश के प्रति उसका भावनात्मक तनाव तो जुड़ ही जाता है। ऐसे में गुटनिरपेक्षता कहां रह जाती है।
4. आलोचकों का यह भी कहना है कि गुटनिरपेक्षता अवसरवादी नीति है। इसमें टिकारूपन नहीं है। गुटनिरपेक्ष देश विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए दोहरे मापदण्ड अपनाते हैं उनका ध्येय अधिक से अधिक लाभ उठाने का है। इसलिए यह काम निकालने की नीति है।
5. स्वयं गुटनिरपेक्ष देशों में भी आपसी फूट व तनाव रहता है। गुटनिरपेक्ष देश सदैव एक दूसरे का शोषण करने की ताक में रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे विकसित देशों के प्रति संगठित नहीं हो सकते। इस बुनियादी एकता के अभाव में गुटनिरपेक्षता की सफलता की आशा करना व्यर्थ है।
6. आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता—एक दिशाहीन आन्दोलन है। हवाना सम्मेलन (1979) में सभी गुटनिरपेक्ष देश तीन भागों में बंट गए थे। इनकी विचारधारा में मूलभूत अंतर स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आए। क्यूबा और वियतनाम ने साम्यवादी गुट की ओर झुकाव की बात कही। सिंगापुर तथा कायरो ने पश्चिमी गुट के साथ सहयोग करने की वकालत की। भारत जैसे देशों ने ही केवल गुट—निरपेक्षता को बनाए रखने में सहयोग दिया। इस प्रकार परस्पर विरोधी विचारों ने गुटनिरपेक्षता को एक दिशाहीन आन्दोलन बना दिया।
7. गुटनिरपेक्षता केवल आदर्शवाद का पिटारा है। इसका अपना कोई मौलिक सिद्धान्त नहीं है गुटनिरपेक्ष देश कई बार द्विपक्षीय मामलों को सम्मेलनों में उठाते रहते हैं। इसमें शामिल सभी देश पृथक तरह की विचारधारा रखते हैं। इसमें तानाशाही व लोकतन्त्रीय दोनों व्यवस्थाओं वाले देश एक साथ शामिल हैं। उनकी मौलिक विचारधारा में अन्तर होने के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक असफल आन्दोलन सिद्ध होता है।
8. इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में कोई प्रमुख परिवर्तन नहीं हुआ है। शीत—युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों में आपसी तनाव में कमी गुटनिरपेक्ष देशों के प्रयासों से न होकर उनकी आपसी सूझ—बूझ का ही परिणाम था। 1962 में क्यूबा संकट के समय दोनों महाशक्तियों में टकराव का टलना उनकी आपसी सहमति थी। अरब—इजराइल युद्धों में भी गुट—निरपेक्ष देश विशेष भूमिका नहीं निभा सके। अनेक अफ्रीकी देशों ने अपनी मुक्ति अपने खूनी संघर्ष से प्राप्त की। इसमें गुटनिरपेक्ष देशों की कोई विशेष भूमिका नहीं रही। अतः गुटनिरपेक्षता कोई प्रभावी उपाय नहीं है। जो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अपनी उपस्थिति सिद्ध करा

सके।

9. आलोचकों का यह भी कहना है कि यह नीति शीत युद्ध के दौरान तो ठीक थी, लेकिन अब जब शीत-युद्ध को समाप्त हुए भी एक दशक हो चुका है, इसको जारी रखना एक बेईमानी है।

9.8 गुटनिरपेक्षता का भविष्य

आज विश्व के सामने प्रमुख मुद्दा सुरक्षा और विकास का है। आलोचकों द्वारा गुटनिरपेक्षता को अप्रासांगिक बताना अनुचित है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ के 2/3 देश इसकी सदस्यता ग्रहण कर चुके हैं। इसकी लोकप्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। यह नव उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा शक्ति राजनीति विरोधी आन्दोलन से शुरू होकर आज सुदृढ़ तृतीय विश्व आंदोलन का रूप ले चुका है। यह शान्ति और समृद्धि का प्रमुख प्रोत्साहक बन गया है। यह तृतीय विश्व की एकता, स्वतन्त्र विदेश नीति, विकासशील राष्ट्रों के अधिकारों, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि व अंतर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रमुख अभिनेता बन चुका है। यद्यपि इसकी कार्यकुशलता में तो कुछ कमी आई है लेकिन यह पूर्णतया महत्वहीन आन्दोलन नहीं हो सकता। आज गुटनिरपेक्ष देश अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने की दिशा में कार्यरत हैं। इसलिए गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में एक नए विकल्प के तौर पर अपना स्थान बना चुकी है।

आज तृतीय विश्व के देशों के सामने सबसे बड़ा खतरा आर्थिक साम्राज्यवाद का है। बहुराष्ट्रीय निगमों के बढ़ते हस्तक्षेप से इन देशों के सामने अपनी स्वतन्त्रता को बचाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। नव-औपनिवेशिक शोषण से बचाने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों का आन्दोलन विकसित देशों पर दबाव बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। आज अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद जो तृतीय विश्व के देशों के आर्थिक विकास में बाधा है और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दे रहा है, उसे समाप्त करने में तृतीय विश्व के देश आपसी सहयोग देकर उसका सफाया कर सकते हैं। आज शस्त्र दौड़ में कमी लाने के लिए तृतीय दुनिया के देश एकजुट होकर प्रयास कर सकते हैं ताकि इन देशों में घातक हथियारों का जमावड़ा न हो, नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को पुरजोर बनाने के लिए उत्तर-दक्षिण तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग में वृद्धि करने के लिए गुटनिरपेक्ष देश महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। ये देश संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन के लिए विकसित देशों पर दबाव बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। आज अमेरिका की दादागिरी की नीति का विरोध करने का साहस गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ही कर सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने, नव-उपनिवेशवाद का विरोध करने, निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा देने और संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रजातन्त्रीकरण करने के लिए दबाव डालने के साधन के रूप में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। गुट निरपेक्ष देशों को अपनी भूमिका में वृद्धि करने के लिए आपसी झगड़ों व तनावों को सहयोग की नीति के आधार पर हल करने की जरूरत है। आज तीसरी दुनिया के देशों के पास भी पर्याप्त आर्थिक साधन व तकनीकी ज्ञान है। इसका सदुपयोग करने के लिए तकनीकी ज्ञान के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। यदि तृतीय विश्व के देश आपसी मतभेदों को भुलाकर सहयोग को बढ़ावा दें तो वे विकसित देशों के सामने एक चुनौती पेश कर सकते हैं। यदि तृतीय राष्ट्र अपने इस उद्देश्य में सफलत हो जाते हैं तो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का भविष्य उज्ज्वल होगा अन्यथा अन्धकारमय है। गुट निरपेक्ष आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों को इसकी सभी कमियों को दूर करना होगा ताकि यह एक सशक्त आन्दोलन बनकर उभरे।

9.9 गुटनिरपेक्षता एवं भारत

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाते वाला प्रथम देश भारत है। नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत के सामने सबसे प्रमुख समस्या अपनी सुरक्षा व आर्थिक विकास की थी, वह उपनिवेशवादी, शोषण को अच्छी तरह पहचान चुका था, वह किसी भी शक्ति गुट के खिलाफ था, इसलिए उसने शक्ति गुटों से दूर रहकर ही अपनी भूमिका निभाने का निर्णय किया और गुट निरपेक्षता को ही अपनी विदेश नीति का प्रमुख आधार बनाया। भारतीय विदेश नीति के आधार के रूप में गुट निरपेक्षता निरन्तर विकास की ओर अग्रसर रही। 1949 में अमेरिकी कांग्रेस में नेहरू जी ने कहा था कि भारत अपने विदेशी सम्बन्धों में गुट निरपेक्षता की नीति का पालन करेगा, लेकिन वह अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति मूकदर्शक बनकर भी नहीं रहेगा। वह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गुट राजनीति से दूर रहकर भूमिका निभाने को प्राथमिकता देगा।

भारत ने अपनी स्वतन्त्रता के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को तनावपूर्ण पाया। उसका विश्वास था कि किसी भी गुट के साथ शामिल होने से तनाव में और अधिक वृद्धि होगी। उसने अपने विश्व शान्ति के ऐतिहासिक विचार को ही आगे बढ़ाने का निर्णय किया। इसी पर उसकी राष्ट्रीय पहचान निर्भर हो। उसने महसूस किया कि उसके पास पर्याप्त आर्थिक साधन व मानवीय शक्ति है, इसलिए वह भी विश्व की महान शक्ति बन सकता है। इसलिए नेहरू जी ने गुटनिरपेक्षता को ही अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल पाया। नेहरू जी ने मिस्त्र तथा युगोस्लाविया देशों के साथ मिलकर गुटनिरपेक्षता को सैद्धान्तिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। भारत ने इसे एक आन्दोलन का रूप देकर तीसरी दुनिया के देशों को एक सांझा मंच प्रदान किया। अब नवोदित विकासशील राष्ट्रों को अपनी विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए उचित अवसर प्राप्त हो गया।

एक गुटनिरपेक्ष देश के रूप में भारत की भूमिका को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

1. कोरिया संकट के समय भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें उत्तरी कोरिया को दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण के लिए दोषी ठहराया गया था। भारत ने 1950 के अन्त में संयुक्त राष्ट्र की सेनाएं जब चीन की तरफ बढ़ने लगी तो भारत ने अमेरिका की आलोचना की। कोरिया संकट के समय भारत द्वारा स्वतन्त्र फैसला लेने की क्षमता को सर्वत्र सराहा गया। युद्ध की समाप्ति के बाद वह तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन आयोग का अध्यक्ष भी बन गया। इस युद्ध में उसकी गुट निरपेक्ष देश के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका रही। उसने आक्रमणकारी देश की आलोचना करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई।
2. उसने 8 दिसम्बर 1951 को जापान-अमेरिका फ्रांसिसको शांति संधि की शर्तों पर आपत्ति करके अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का ही परिचय दिया, भारत ने इस सन्धि को अन्यायपूर्ण बताकर इस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।
3. भारत ने हिन्द चीन क्षेत्र में 1954 में अमेरिकी हस्तक्षेप की भी निन्दा की। भारत ने विश्व को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि यह साम्राज्यवाद की पुनः स्थापना का बिगुल है। इस संकट के समाधान के लिए भारत ने जेनेवा समझौते का स्वागत किया और भारत की सकारात्मक भूमिका के लिए प्रशंसा की गई।
4. 1954 में भारत ने 'पंचशील के सिद्धान्तों' का प्रतिपादन करके विश्व में अपनी विश्व शान्ति की स्थापना वाले देश के रूप में भूमिका को सिद्ध कर दिया। भारत को एक शांतिप्रिय देश मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हुई। उसके पंचशील के सिद्धान्तों को विश्व शान्ति के लिए आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। विश्व जनमत उसके पक्ष में हो गया। इस प्रकार गुटनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत ने अपनी पहचान सुदृढ़ की।
5. भारत ने 1954 में सीटो संगठन की सदस्यता अस्वीकार कर दी। पाकिस्तान इसका सदस्य बन गया। भारत

ने इस पर आपत्ति की तो अमेरिका ने उसे आश्वस्त किया कि इससे भारत को कोई खतरा नहीं होगा। एक शान्तिप्रिय देश के रूप में भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इससे भारत का झुकाव सोवियत संघ की ओर बढ़ गया लेकिन भारत ने सोवियत संघ से कोई औपचारिक समझौता न करके गुट निरपेक्षता की ही नीति का पालन किया।

6. 1954 में नेहरू जी ने भारत-चीन समझौते द्वारा अपनी शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को मजबूत आधार प्रदान किया।
7. 1955 में बाण्डुंग सम्मेलन में भारत ने एशियाई अफ्रीकी एकता पर बल दिया। इससे गुटनिरपेक्षता को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। तृतीय विश्व के देशों में एकता के प्रयास तेज हुए।
8. 1956 में स्वेज नहर संकट के समय भारत ने पश्चिमी राष्ट्रों की आलोचना की। उसने इजराइल तथा मिस्त्र के बीच गाजापट्टी में अस्थाई युद्ध विराम के लिए संयुक्त राष्ट्र सेना के लिए एक टुकड़ी भी भेजी।
9. भारत ने 1956 में ही हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप पर कोई प्रतिक्रिया नहीं की। इससे उसकी गुटनिरपेक्षता की कार्यप्रणाली पर आरोप लगाए जाने लगे। आलोचकों ने इसे अवसरवादी नीति कहा।
10. 1960 में कांगों संकट के समय भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रार्थना पर अपनी सेना भेजी। इस तरह उसने विश्व शांति के लिए अपना पूरा सहयोग दिया। उसने अपनी सक्रिय गुटनिरपेक्षता का पालन करके विकसित देशों को अपने प्रति सोचने को विवश कर दिया।
11. भारत ने 1961 के बेलग्रेड सम्मेलन तथा 1964 के कायरो सम्मेलन में शीतयुद्ध के तनाव को दूर करने के लिए निर्गूट देशों के साथ मिलकर विचार किया। भारत ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अंतर्मुखी बनाने का विचार प्रस्तुत किया। इस तरह भारत ने गुट निरपेक्षता को ही मजबूत बनाने का प्रयास किए।
12. 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के समय गुट-निरपेक्ष देशों से कोई सहायता नहीं प्राप्त हुई। इससे उसकी गुट निरपेक्षता को गहरा धक्का लगा। लेकिन भारत को दोनों महाशक्तियों से ही सहायता प्राप्त हुई। अनेक देश ऐसा विश्वास करने लगे थे कि अब भारत गुटों की राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने लगेगा लेकिन उनका अनुमान गलत निकला। भारत में आक्रमणकारी देशों के विरुद्ध शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर सम्बन्धों को सुधारने को प्राथमिकता दी।
13. 1965 में भारत-पाक युद्ध में भारत की गुट-निरपेक्षता की अग्नि परीक्षा फिर से हुई। भारत ने जिस तरह बिना किसी अन्य देश की सहायता के इस युद्ध में विजय प्राप्त की, इसने विश्व को यह दिखा दिया कि भारत के पास एक विश्व शक्ति बनने की योग्यता है। इस दौरान भी भारत ने अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति का समुचित पालन किया।
14. 1968 में चेकोस्लोवाकिया में हुए विद्रोह को दबाने के लिए सोवियत संघ के हस्तक्षेप की भारत द्वारा आलोचना की जाने लगी। अनेक देशों ने मांग की भारत को इस नीति का त्याग कर ही देना चाहिए।
15. 1971 में भारत-पाक युद्ध में भारत ने पाकिस्तान को करारी मात दी। इस दौरान उसने अगस्त 1971 में सोवियत संघ के साथ एक मैत्री सन्धि भी की। भारत ने इस दौरान गुटनिरपेक्षता को नए सिरे से परिभाषित करके अपनी इस नीति को ओर अधिक सुदृढ़ बनाया। भारत ने कहा कि यह कोई सैनिक सन्धि नहीं है, जिसका युद्ध में प्रयोग किया जा सके।
16. 1977 में भारत में सत्ता परिवर्तन से यह आशा की जाने लगी कि भारत इस नीति का परित्याग करके किसी न किसी गुट के साथ अवश्य शामिल हो जाएगा। लेकिन नई सरकार ने भी अपनी पुरानी नीति को ही

व्यापक आधार प्रदान किया।

17. 11 मार्च, 1983 को भारत को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष बनाया गया, वह लगातार गुटनिरपेक्षता को सुदृढ़ बनाने की दिशा में कार्य करता रहा। 1990 में शीत युद्ध की समाप्ति पर इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह लग गया।

लेकिन भारत आज भी गुट निरपेक्ष देश के रूप में एक सक्रिय भूमिका निभा रहा है। भारत ने 2002 में अफगानिस्तान में अमेरिका द्वारा की गई आतंकवादी विरोधी कार्यवाही पर मिली-जुली प्रतिक्रिया की। आज भी भारत इस नीति को मजबूत बनाने के लिए निरन्तर प्रयासरत है। भारत गुटनिरपेक्षता को बदलते अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के अनुसार परिभाषित करने की दिशा में काम कर रहा है। आज गुटों से दूर रहना गुट-निरपेक्षता की आवश्यक शर्त नहीं है, भारत का मानना है कि किसी सैनिक संधि में शामिल देश भी गुटनिरपेक्ष देश हो सकते हैं। आज गुटनिरपेक्षता को अधिक सार्थक व उपयोगी बनाने के लिए भारत दक्षिण-दक्षिण सहयोग में वृद्धि करने के लिए कार्यरत है। भविष्य में भारत का स्वरूप है कि गुट निरपेक्षता एक ऐसे सशक्त आन्दोलन के रूप में उभरे कि यह नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग मनवा सके और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का निर्धारण नए सिरे से हो, ऐसी स्थिति में भारत की गुटनिरपेक्ष नीति का महत्व और बढ़ जाता है।

9.10 सारांश

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध से बचने हेतु तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की स्थापना हुई। यह आन्दोलन मूल रूप से विश्व में शान्ति स्थापना के साथ विकासशील देशों के विकास का मार्ग प्रशस्त करने हेतु स्थापित हुआ। इसकी बढ़ती हुई सदस्य संख्या व 18 शिखर सम्मेलनों के आयोजन से इसकी उपयोगिता का पता चलता है। परन्तु शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्न उठने लगे उसका भी दोनों पक्षों के तर्कों के आधार पर अध्ययन प्रस्तुत है। क्योंकि इस आन्दोलन के स्थापकों एवं अग्रणीय नेताओं में भारत प्रमुख रूप से जुड़ा रहा है इसीलिए भारत की भूमिका का आंकलन भी विस्तारपूर्वक दिया गया है। अतः इस अध्याय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का समग्र चिन्तन एवं उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में योगदान का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

9.11 प्रश्नावली

1. गुटनिरपेक्षता से आपका क्या अभिप्राय है। इसको प्रोत्साहित करने वाले तत्त्वों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के विभिन्न शिखर सम्मेलनों के माध्यम से इसकी बदलती हुई भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका पर प्रकाश डालिए।
4. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में भारत की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
5. शीतयुद्धोत्तर युग में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सार्थकता का वर्णन कीजिए।
6. क्या गुटनिरपेक्ष आन्दोलन वर्तमान में प्रासंगिक है। अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।
7. भारत आज सैद्धान्तिक रूप में गुटनिरपेक्ष है, परन्तु व्यवहारिकता में नहीं। टिप्पणी करें।

9.12 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)

2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)